पद्य-प्रभा की विशेषताएँ

(१) संकलन बोर्ड के निर्देशों के अनुसार एक निश्चित योजना बना कर किया गया है।

(२) कविताओं का स्तर हाई स्कूल से अधिक ऊँचा है तथा उनमें भावना-मूलक कविताएँ अधिक हैं।

(३) सभी कविताएँ काव्यगत सौंदर्य को ध्यान में रख कर ही रखी गई हैं। यदि किसी कवि की प्रतिनिधि रचनाओं और सुन्दर रचनाओं में विकल्प की समस्या आई है तो सुन्दरता को तरजीह दी गई है।

(४) सुरुचि और नैतिकता का निरंतर ध्यान रखा गया है।

(५) पुरानी कविताओं की पृष्ठ-संख्या ५४ और नई की ६५ है। ११ पृष्ठों का यह अंतर इस कारण रखा गया है कि कुल मिला कर नई कविताओं की शैली की अपेक्षा पुरानी कविताओं की शैली साधारणतया अधिक गँठी हुई है। उसमें कम शब्दों में अपेक्षाकृत अधिक भाव है। इस दृष्टि से पुरानी और नई कविताओं की मात्रा समान ही समझना चाहिए।

(६) नई और पुरानी कविताओं में मात्रा की समानता रखने का कारण 'पद्य की पाठ्य पुस्तक' संबंधी निर्देश संख्या (३) तो है ही साथ ही यह भी है कि विद्यार्थियों को विकासशील हिंदी काव्य का यथेष्ट परिचय देना हम आवश्यक समझते हैं। यह काव्य हमारे जीवन के अधिक निकट होने के कारण यथार्थता की छाप डालता हुआ आदर्श की प्रेरणा देने में अधिक सक्षम है। विद्यार्थियों को इस तथ्य से भी अवगत कराना आवश्यक है कि हिन्दी ने आधुनिक युग में

कहाँ तक उन्नति की है और यह उन्नति कहाँ तक भाषा के गौरव के अनुरूप है।

(७) कविताओं के संकलन में यह विवेक किया गया है कि वे यथासंभव ऐसी न हों जो विद्यार्थी हाई स्कूल में पढ़ आए हैं अथवा बी० ए० में पढ़ेंगे। साथ ही पुराने संकलनों में वर्षों से चली आई हुई कविताओं या अवतरणों को बचाया गया है और संकलन में नवीनता लाने की चेष्टा की गई है।

(८) कवियों के चुनाव में प्रत्यक्षतः जो नवीनता दिखाई देती है, उसका कारण मात्र नवीनता लाना नहीं है, वरन् (क) इंटरमीडिएट के विद्यार्थियों के स्तर (ख) रचनाओं की सुन्दरता और (ग) विद्यार्थियों पर उनके प्रभाव का विचार ही अधिक है। इन सीमाओं के भीतर हिंदी काव्य की उत्कृष्टता के (घ) प्रतिनिधित्व पर भी दृष्टि रखी गई है। इसके फल-स्वरूप कतिपय उपेक्षित किन्तु उत्कृष्ट कवियों को विद्यार्थी-जगत के सम्मुख लाने का भी अवसर मिल गया है।

(९) उपर्युक्त (८) में दिए गए कारणों के अतिरिक्त (अ) नन्ददास को रखने के दो अन्य कारण हैं। (क) वे कृष्ण-भक्ति काव्य के ऐसे कवि हैं जिनकी कई विशेषताएँ अन्य कवियों से भिन्न हैं तथा (ख) वे रीति कालीन हिन्दी कविता की पूर्वसूचना देते हैं।

(आ) मतिराम और देव अब तक प्रचलित केशव, सेनापति आदि कवियों के स्थान पर इस लिए भी रखे गए हैं कि उनमें विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य अधिक सरस सामग्री मिलती है तथा उनमें शृंगार रस ऐसा भी है जिसे लांछित नहीं किया जा सकता।

(इ) सियारामशरण गुप्त को सम्मिलित करने के विशेष कारण हैं। (क) वे कविता के यादों से मुक्त आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'विस्तृत अर्थ पर स्वाभाविक स्वच्छंदता का मर्मपथ ग्रहण करने वाले कवि हैं' तथा (ख) उनकी कविता में नैतिकता, मानवता, देश-भक्ति और चरित्र को उठाने की प्रेरणा है।

(९) 'अज्ञेय' को इस विशेष कारण से रखा गया है कि वे काव्य की नवीनतम प्रवृत्ति का नेतृत्व कर रहे हैं। साथ ही उनकी अनेक कविताएँ विद्यार्थियों की दृष्टि से भी सरस और प्रेरणादायक हैं।

(१०) मीरा को हमने इस कारण सम्मिलित नहीं किया कि उन्हें हाई स्कूल में अवश्य रखा जाता है। उनके कुल लगभग २५० पदों में से विद्यार्थियों के काम के जो पद छाँटे जा सकते हैं उनमें हाई स्कूल और इंटरमीडिएट के स्तर का अंतर कर सकना और चर्वित-चर्वण बचाना असंभव है। विद्यार्थियों की दृष्टि से उनमें सरलता अधिक है।

(११) आधुनिक काल में मैथिलीशरण गुप्त के पहले हमने किसी कवि को नहीं रखा इसका कारण यही है कि इंटरमीडिएट के विद्यार्थियों के स्तर की भाव और अर्थ-गंभीरता के साथ-साथ काव्यगत सौंदर्य एवं नवीनता का समन्वय यथेष्ट रूप में नहीं पाया जाता है।

(१२) कवियों का परिचय यथासाध्य सर्वांगीण किंतु संक्षिप्त दिया गया है। लगभग सभी ज्ञातव्य बातों का संकेत कर दिया गया है। उन्हें पल्लवित करके व्याख्या करना अध्यापक का काम है।

(१३) प्रश्न बुद्धि-विवेक को प्रेरणा देने वाले तथा ऐसे हैं जिनकी सहायता से विद्यार्थी कवियों या कविताओं की अविवृत विशेषताओं को स्वयं खोजने का प्रयत्न करें।

(१४) 'हिंदी काव्य' शीर्षक भूमिका काव्य के विकास का एक स्पष्ट चित्र सामने रखती है। इतने कम विस्तार में काव्य के प्रत्येक काल और युग की किसी भी प्रवृत्ति को यथासाध्य छोड़ा नहीं गया है। यह प्रयत्न किया गया है हिंदी काव्य के इतिहास पर विद्यार्थी को सच्चे आत्म-गौरव का अनुभव हो।

(१५) परिचय और भूमिका की भाषा विद्यार्थियों के लिए कठिन न हो जाए इसका विशेष ध्यान रखा गया है। साथ ही [illegible] भाषा-शैली कैसी होनी चाहिए इसका आदर्श उपस्थित करने का भी प्रयत्न किया गया है।

(१६) पुस्तक के अंत में परिशिष्ट देकर संकलित कविताओं के आधार-ग्रंथ, उनके प्रकाशक और प्रकाशन-तिथि का उल्लेख कर दिया गया है। प्राचीन कविताएँ प्रामाणिक संस्करण से ली गई हैं।

(१७) कविताएँ आधार-ग्रंथों से अविकल उद्धृत की गई हैं। जहाँ असंदिग्ध रूप में छापे की भूल जान पडी, केवल वहीं शुद्ध करने का साहस किया गया है।

(१८) पुस्तक में मुद्रण संबधी कोई भूल न रह जाए इस विषय में विशेष सतर्कता रखी गई है।

वैयक्तिक ईश्वर में प्रेम-भक्ति मूलक अनन्य भाव, गुरु की महत्ता, सत्संग की उपादेयता तथा नाम-स्मरण की महिमा समान रूप से मान्य हैं। भाव-भक्ति और उसके आधार सौंदर्य-बोध को प्रमुखता देने के कारण इन भक्तों की अभिव्यक्ति सहज ही श्रेष्ठ काव्य बन गई। हिंदी काव्य का यह प्रथम उन्मेष जीवन के शाश्वत मूल्यों का नवीकरण तथा हमारी संस्कृति के पुरातन आदर्शों की पुनर्प्रतिष्ठा करता है। व्यापक जन-भावना को व्यक्त करने में वह अभूतपूर्व है। लोक-संग्रह का उसमें पावन संदेश है।

दक्षिण के आचार्यों से प्राप्त भक्ति के संदेश को सर्वप्रथम स्वामी रामानंद ने प्रसारित किया। कबीर ने उसे ग्रहण करके नाथपरंपरा और सूफी विचारधारा का उपयोग करते हुए अपने सहज साधना-पथ का निर्माण किया। उनकी प्रेम-भक्ति की भावना अवतार और मूर्त्ति के स्थूल प्रतीकों का बहिष्कार करने के कारण अधिक सूक्ष्म और प्रायः रहस्यमय हो गई है। किंतु उनकी निर्गुण-भावना अभारतीय कदापि नहीं है। कबीर के बाद निर्गुणवादी संत कवियों की एक लंबी परंपरा है। वे अधिकतर निम्न मानी जाने वाली जातियों के थे। धीरे-धीरे संत काव्य में सांप्रदायिकता बढ़ती गई।

संत और वैष्णव भक्ति-काव्य को प्रभावित करने की दृष्टि से सूफी प्रेम-भक्ति महत्त्वपूर्ण है। किंतु प्रत्यक्ष रूप में उसके अंतर्गत रचा प्रेमाख्यानक काव्य जिसकी परंपरा जायसी के भी पहले से थी और बाद में कई शताब्दियों तक चलती रही, केवल काव्यानुरागी शिक्षित समाज के विशिष्ट वर्गों में ही सीमित रहा। निश्चय ही उसने मानव-वृत्तियों को उदार और उदात्त बनाने तथा अलौकिक प्रेम से प्रभावित करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। गीति-प्रधान भक्ति-काल में एकांत रूप से कथा-प्रबंधों की रचना द्वारा इस काव्य-धारा ने इतिहास में विशेष स्थान पाया है।

कृष्ण की प्रेम-लक्षणा भक्ति का आंदोलन मध्य युग का सबसे प्रबल जन-आंदोलन था। निम्बार्क आदि दक्षिण के आचार्यों ने जिस कृष्ण-

भक्ति का संदेश बारहवीं-तेरहवीं शताब्दियों में दिया था, वह सोलहवीं शताब्दी में वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग, चैतन्य के गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय, हरिवंश के राधावल्लभी तथा हरिदास के सखी संप्रदाय में प्रमुख रूप से संगठित हो कर जन-मन को नई आशा और उमंग की स्फूर्ति देने लगी। लोक-प्रभाव ही नहीं, काव्य-रचना की दृष्टि से भी इनमें सबसे अधिक महत्व पुष्टि मार्ग का है जिसमें गोसाईं विट्ठलनाथ द्वारा स्थापित अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त आधुनिक काल के भारतेंदु हरिश्चन्द्र तक बहु-संख्यक कवि हुए हैं। किंतु इसका वास्तविक महत्व महाकवि सूरदास के कारण है, जो सांप्रदायिक सीमाओं का अतिक्रमण करके कृष्ण-काव्य के प्रतिनिधि कवि ही नहीं, आधार-स्तंभ और उद्गम-स्रोत हैं। पंद्रहवीं शताब्दी में मैथिल-कोकिल विद्यापति द्वारा वर्णित राधा-कृष्ण के लौकिक वासना-सिक्त प्रेम को इन कवियों ने, उसके ऐन्द्रिय आकर्षण को तनिक भी कम न करते हुए, लोकातीत बना दिया। यही नहीं उनके काव्य के दांपत्य के अतिरिक्त वात्सल्य और सख्य भाव विश्व साहित्य में उसकी अद्वितीयता प्रमाणित करते हैं। अधिकांश कृष्ण-भक्ति काव्य पदों में लिखा गया है जिसमें गीति काव्य के लक्षण उत्कृष्ट रूप में मिलते हैं। कृष्ण-भक्ति काव्य सौंदर्य के माध्यम से सत्य की उपलब्धि का श्रेष्ठ उदाहरण है। ये सभी कवि समाज के कल्याण की भावना से प्रेरित थे। कृष्ण-भक्ति ने भेद-भाव मिटा कर नया सामाजिक संगठन करने की चेष्टा की थी।

कृष्ण-भक्ति की अपेक्षा विस्तार में कम होते हुए भी लोक-जीवन के संग्रह की सामर्थ्य राम की मर्यादा भक्ति में अधिक पाई जाती है। इस भक्ति-धारा में गो० तुलसीदास ही एक-मात्र समर्थ कवि हुए। उनके एकाकी प्रभाव के फलस्वरूप उत्तर भारत का कितना बड़ा भू-भाग राम-भक्ति में निमग्न हो गया, यह देख कर आश्चर्य होता है। कृष्ण-भक्त कवियों ने लोक-वेद की मर्यादा को भक्ति-भाव में स्वतः सिद्ध मान कर उसकी जो निंदा की थी, यथार्थ-द्रष्टा तुलसी ने उसके खतरे को समझ कर स्मार्त धर्म की पुनः प्रतिष्ठा की। इसी प्रकार इन्होंने निर्गुणो-

पासक सन्तों के प्रचार में सामाजिक उच्छृंखलता की आशंका देख कर उनकी कठोर आलोचना की। उनके चरित-नायक राम के चरित्र की भाँति तुलसी का काव्य भी अत्यंत संयमित है, तथा शील-सौजन्य की शिक्षा, आत्म-बल की प्रेरणा, सौंदर्य-बोध को तृप्ति देने वाला है। सामाजिक और साहित्यिक दोनों क्षेत्रों मे उसने हिंदी का ही नहीं, भारत का गौरव बढ़ाया है।

कृष्ण-भक्ति काव्य में विशेष रूप से आकर सूरदास ने काव्य के विकास की अभूतपूर्व सम्भावनाएँ विवृत कर दी थीं। कृष्ण-लीला के मिलन और विरह के चित्रण में शृङ्गार रस के अंग-प्रत्यंग के असंख्य उदाहरण विद्यमान थे। नन्ददास ने तो नायिका-भेद का वर्णन करके मानो काव्य के भावी विकास का दिशा-निर्देश कर दिया था। भक्ति-काव्य ने वर्ण्य-विषय, भाव-सम्पत्ति तथा व्यञ्जनापूर्ण भाषा, का अक्षय्य उत्तराधिकार छोड़ा था। परन्तु परवर्ती कवि उसका सदुपयोग न कर सके।

सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दियों में सांप्रदायिक रूढ़िवाद बढ जाने से कृष्ण-भक्ति में प्रेरणा शक्ति नहीं रही। कवियों को भी अब राजाश्रय मिलने लगा था और कवि-कर्म व्यवसाय बन गया था। फलतः काव्य-रचना प्रयत्नसाध्य कला तथा पांडित्य का आडंबर बन गई थी। कविता अब आश्रयदाता राजाओं के व्यसन अथवा सहृदयों के मनोरंजन का साधन-मात्र थी। वचन विदग्धता, उक्ति-वैचित्र्य, शैली की मार्मिकता आदि कलात्मक विशेषताओं के कारण इसे काल को कला-काल भी कहते हैं। पांडित्य प्रदर्शन के लिये अधिकारा कवि या तो भाव, विभाव, अलकार, नायिका-भेद आदि के लक्षण-उदाहरण लिखते थे या कम से कम इन काव्यांगों पर दृष्टि रख कर ऐसी रचनाएँ करते थे जिनमें उक्त उदाहरण ढूँढ़े जा सकें। वे वास्तव में सफल लक्षणकार नहीं, कवि मात्र थे। कविता में शृङ्गार रस की प्रधानता थी जो प्राय सदैव राधा-कृष्ण प्रेम के बहाने व्यक्त किया जाता था। किंतु यह कहना उचित नहीं है कि उसमें भक्ति के

माधुर्य भाव का आभास भी नहीं था। प्रेम के चित्रण में लौकिक और अलौकिक की रेखा खींच कर विभाजित कर सकना नितांत असम्भव है, विशेष रूप से, जब उस प्रेम के आलंबन कृष्ण और राधा जैसे अलौकिक पात्र हों। यह बात इस काल के उन कवियों की रचनाओं से और स्पष्टता से सिद्ध होती है जिन्होंने निश्छल कवि-भावना से शृङ्गारी कविताएँ लिखी हैं। रस की दृष्टि से यह काल शृङ्गार काल कहा जा सकता है। किन्तु इन शृङ्गारी कवियों ने वीर रस की भी कविताएँ लिखीं तथा कुछ कवि ऐसे भी हुए जो केवल वीर रस की रचना करते थे, यह अवश्य है कि भूषण के महत्त्वपूर्ण अपवाद के साथ उनकी वीर रस की कविता में आश्रयदाता की झूठी प्रशंसा और हास्यास्पद अतिशयोक्ति ही अधिक है, उसी प्रकार जैसे शृङ्गार रस प्राय. अत्यन्त सकुंचित, कृत्रिम और उबाने वाला है। महत्त्वहीन भक्ति-काव्य तथा शिक्षाप्रद अनुभवपूर्ण नीति-काव्य की भी इस काल में कुछ रचनाएँ हुई हैं। काव्य-रूप की दृष्टि से इस काल को मुक्तक काल कहना भी अनुचित न होगा, क्योंकि अधिकांश कवि कवित्त, सवैया, दोहा आदि छन्दों में स्फुट रचनाएँ ही करते थे।

व्रजभाषा में भक्ति और शृङ्गार की प्रवृत्तियाँ क्षीण रूप में उन्नीसवीं शताब्दी तक चलती रहीं। आधुनिक काल का भारतेंदु-युग भी जो उन्नीसवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण में पड़ता है काव्य-रचना में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन न कर सका। इस समय भी उन्हीं पुराने विषयों का पिष्टपेषण होता था। व्यंग्यात्मक और सामयिक विषयों पर खड़ीबोली में कुछ रचनाएँ अवश्य होने लगी थीं, किंतु वे नीरस और गद्यात्मक थीं। भारतेंदु-युग का अन्त होते-होते कुछ कवियों को काव्य की विषय-वस्तु और भाषा में नवीनता लाने की चिंता अवश्य होने लगी थी, किन्तु उनका अधिकाश रचना-काल द्विवेदी युग में पड़ता है।

वस्तुतः बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में ही आधुनिक हिन्दी काव्य का प्रथम उत्थान हुआ। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी व्रजभाषा का

पूर्ण बहिष्कार तथा खड़ीबोली का परिष्कार करके उसे सुसंस्कृत और व्याकरण-सम्मत काव्य-भाषा बनाना चाहते थे। वे स्वयं भी पद्य-रचना करते थे, किंतु अनेक कवियों को प्रेरणा और प्रोत्साहन देकर खड़ी-बोली में रचना कराने में उनका विशेष महत्त्व है। 'सरस्वती' में उन्होंने कभी ब्रजभाषा की कविता को स्थान नहीं दिया। द्विवेदी-युग में कविता का दृष्टिकोण तत्कालीन सामाजिक दृष्टिकोण की भाँति सुधारवादी और उपदेशपूर्ण है। कविता के विषय पौराणिक, ऐतिहासिक और वर्णनात्मक हैं। कविता का रूप प्रबंधात्मक या निबंधात्मक है। स्वयं द्विवेदी जी नए छंदों के प्रयोग में वार्णिक वृत्तों को अधिक पसन्द करते थे। कुछ कवियों ने उनका अनुकरण भी किया। परन्तु वार्णिक वृत्त हिंदी की प्रकृति के अनुकूल न थे, अतः अधिकांश कवियों ने नए-नए मात्रिक छन्दों के प्रयोग में ही नवीनता दिखाई। द्विवेदी-युग की उपर्युक्त प्रवृत्तियों के फलस्वरूप कविता प्रसाद गुण-पूर्ण, इतिवृत्त-प्रधान तथा गद्यात्मक हो कर रह गई। राजनीतिक सजगता के प्रभाव से देश-भक्तिपूर्ण कविताओं का स्वर अवश्य अधिकाधिक ओजस्वी होता जाता था, किंतु अभी वह निराशा, याचना और राज-भक्ति की भावनाओं से सर्वथा मुक्त नहीं हो पाया था।

इस गद्यात्मक नीरसता से ऊब कर स्वयं द्विवेदी युग के कुछ कवि स्वच्छंद भाव-भूमि का अन्वेषण करने लगे थे। राजनीतिक वातावरण में ज्यों-ज्यों उष्णता आती गई त्यों त्यों काव्य में देशभक्ति का स्वर तीव्रतर होता गया और आत्मोत्सर्ग की भावना के साथ क्रांति का आह्वान किया जाने लगा। सामाजिक जीवन की नई चेतना और सक्रियता, अंग्रेजी शिक्षा और साहित्य के प्रसार, बंगला साहित्य के प्रभाव तथा अन्य अनेक कारणों से द्विवेदी-युग की प्रतिक्रिया कविता के नए आंदोलन के रूप में प्रकट हुई। द्वितीय दशक के अंतिम वर्षों से चतुर्थ दशक के मध्य तक का हिंदी कविता का यह छायावाद-युग देश में महात्मा गाँधी के सबसे अधिक क्रियाशील और प्रभावशाली

नेतृत्व का भी काल है। यह साधारण संयोग की बात नहीं है। देश का वातावरण भावात्मक आकुलता, अज्ञात संभावनाओं और एक प्रकार की प्रसव-वेदना से पीड़ित था। हमारे कवियों की भावनाओं में भी हम इसकी झाँकी पाते हैं। उनकी दृष्टि में अभूतपूर्व सूक्ष्मता और कोमलता आ गई थी। अब वे मानव और प्रकृति के वाह्य रूप-रंग से आकृष्ट हो कर उसी पर ठहरते नहीं थे, वल्कि उसके अंतस्तल में प्रवेश करके उसमें अपने भावों की अनुरूपता ढूँढ़ते थे। इस अंतर्दृष्टि में वे कभी-कभी किसी अज्ञात या विराट् के रहस्य-संकेत भी पा जाते थे। यह रहस्यवादी प्रवृत्ति यदा-कदा स्वप्न-मिलन और छायाभास के चित्रणों में सांप्रदायिक रहस्यवाद भी बन गई है। किंतु अधिकांश कवि तो केवल रोमांसिक या स्वच्छंद प्रेम, मानवीय और प्राकृतिक सौंदर्य, अथवा अमूर्त भावनाओं मात्र को सहज संवेदनशीलता और तीव्र अनुभूति के साथ अत्यंत व्यंजनापूर्ण और सूक्ष्मतामूलक शैली में व्यक्त करते थे। विपय-वस्तु की नवीनता के साथ इस कविता की विशेषता उसके भावोन्मेष, सद्यःस्फूर्ति, अंतः प्रेरणा और शैली की अभूतपूर्व नवीनता में है। नए प्रकार की लाक्षणिकता, नवीन अलंकार-विधान, भाव-पूर्ण उक्ति-चमत्कार, सूक्ष्म प्रतीक-योजना, चित्रमय भाषा, ध्वन्यात्मक नाद-सौंदर्य, छायामय साधर्म्य पर आधारित उपमान-कल्पना—शैली की ये अनेक विशेषताएँ छायावाद-युग की कविता को हिंदी के पूर्ववर्ती काव्य से सर्वथा अलग कर देती हैं। परन्तु काव्य की आत्मा तो वही थी जो भक्ति-काल में थी, उसमें निहित जीवन के मूल्य और आदर्श भी भिन्न नहीं थे। भक्ति काल भी गीति काल था और यह छायावाद-युग भी गीति-भावना से ओत-प्रोत। चतुर्थ दशक में छायावादी काव्यधारा का वेग उतरने लगा और उसकी प्रतिक्रिया में स्पष्टता और यथार्थता की पुकार होने लगी। छायावादी भापाशैली का पूर्ण उपयोग करते हुए कवियों ने रहस्यमय प्रियतम के स्थान पर लौकिक प्रेम-पात्रों को प्रतिष्ठित कर लिया और भावना को लौकिक धरातल पर रखने के आग्रह में कभी-कभी स्थूल ऐंद्रियता को भी निःसंकोच

अपना लिया। अनुभूति और अभिव्यक्ति की स्पष्टता के आग्रह ने यदा-कदा निर्लज्जता और अश्लीलता का रूप भी ले लिया, परन्तु ये प्रकृतिवादी कवि मूलतः छायावादी ही थे, अतः कुल मिलाकर काव्य का विकास ही हुआ। दंभ और आडंबर ढँट गया तथा इन कवियों के लिए काव्य-भूमि निर्मल हो गई जिनमें नैसर्गिक कवि-भावना थी।

राजनीति में साम्यवाद-समाजवाद के प्रवेश से जहाँ एक ओर देश-भक्ति की कविताओं में तीक्ष्णता और आक्रोश के साथ ग्लानि और अविश्वास बढ़ रहा था, वहाँ दूसरी ओर जनवाद के उद्घोष में शोषितों-पीड़ितों के प्रति आत्मीयता और सहानुभूति भी थी। काव्य में प्रगतिवाद के आंदोलन ने कविता को जन-जीवन के निकट ले जाने का सुन्दर उपक्रम अवश्य किया, परन्तु उसकी पहुँच शिक्षित जन तक ही सीमित रही। छायावादी काव्य की यह दूसरे प्रकार की प्रतिक्रिया थी, किंतु इसमें भी यथार्थता के आग्रह से कभी-कभी प्रकृतिवादियों के समान श्लीलता का अभाव देखा जाता है।

प्रगतिवाद की बाढ़ में बड़े-बड़े कवि बह गए थे। किंतु अंततोगत्वा उसमें टिकने वाला कोई बड़ा कवि नहीं रहा। चतुर्थ दशक में द्वितीय महायुद्ध का अंत होते-होते जब प्रगतिवाद का उद्घोष मंद पड़ने लगा, तब कुछ कवि एक नए उन्मेष के साथ विषय-वस्तु और शैली—दोनों में नई भूमियाँ खोजने में प्रयत्नशील हुए। अंतर की गहराई में पैठ कर वे उन संवेदनाओं को भी यथातथ्य रूप में व्यक्त करने का प्रयोग कर रहे हैं जिनमें उलझन और अस्पष्टता है तथा जो दूसरों के लिए अत्यंत सामान्य हैं। इस नई कविता को इसीलिए प्रयोगवादी विशेषण दिया गया है। इसमें काव्य-भाषा, छंद-विधान, अलंकार-योजना सभी में पूर्ण निर्बंधता देखकर आशंका होती है कि कहीं 'नए' के प्रति यह आसक्ति कविता की आत्मा—सौंदर्य और रस का ही

बहिष्कार न कर दे और कविता को विलक्षण पहेली या निरुद्देश्य, नीरस गद्य में न परिणत कर दे! परन्तु यह आशंका निर्मूल है। कविता की आत्मा अमर है। हिंदी कविता की परंपरा समृद्ध है। नए कवि विदेशी अनुकरण या 'फैशन' के शौक के लिए उसकी उपेक्षा नहीं करेंगे।

संपादक

विषय-सूची

कबीरदास

(सन् १३९८—१४९४ ई०)

जनश्रुति के अनुसार कबीरदास किसी विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे, और पालन-पोषण उनका नीरू जुलाहे के घर हुआ था। किंतु अनुमान है कि 'उनका जन्म वस्तुत. मुसलमान परिवार में हुआ था।' कहा गया है कि 'जुगी' या 'जोगी' नाम की एक जाति जिस की आजीविका कातना-बुनना थी, पूर्व तथा उत्तर भारत में फैली हुई थी। श्रमजीवियो की यह जाति भी हिन्दुओ में नीच समझी जाती थी। धार्मिक विश्वास में ये 'जोगी' (योगी) नाथपथी थे और निराकार की उपासना करते थे। हिन्दू समाज की जाति-पाँति ही नही, अन्य अनेक परपराओ के भी वे खरे आलोचक थे। भारत में इस्लाम के प्रारभिक दिनो में ही कहते है, इन जोगियो ने सामूहिक रूप से इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया था। कबीर का जुलाहा परिवार इन्हीं जोगियो के अतर्गत था।

कुछ विद्वान् कबीर का जन्म काशी में और कुछ मगहर में मानते है। वे गृहस्थ थे और जब तक जीवित रहे परिश्रम करके पेट पालते रहे। किन्तु बचपन से ही वे साधु-सग में इतने व्यस्त रहने लगे थे कि उनकी माता उदर-पोषण की चिन्ता में डूबी रहती थी। प्रसिद्ध है कि कबीर का पुत्र कमाल था जो उनके विचारो का अनुयायी नही था और सभवतः सगुणोपासक हो कर कबीर के क्षोभ का कारण बना था। कबीर के गुरु स्वामी रामानन्द थे

जिन्होंने समस्त उत्तर भारत में राम की भक्ति का प्रचार करके समाज को नई चेतना और नया सदेश दिया था। कबीर के विचार बड़े क्रांतिकारी थे जिनके कारण, कहते हैं, उन्हें अनेक विपत्तियाँ और यातनाएँ सहनी पड़ी। पुरानी रूढ़ि का खडन करने तथा आत्म-विश्वास की दृढता प्रकट करने के लिए ही कबीर अपने अंतिम समय में काशी से मगहर चले गए थे।

कबीर पढे-लिखे नही थे, किन्तु उनमें असाधारण प्रतिभा थी। नाथ-पंथी योगियों का परपरा, साधु-सगति तथा सहज बुद्धि के आधार पर उन्होंने उस प्रकार की उच्च आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त कर ली थी जैसी उपनिषदा में व्यजित हुई है। ब्रह्म के सगुण रूप को तो वे भ्रममूलक बताते ही थे, वे उस निर्गुण से भी परे अत्यत सूक्ष्म, अवर्णनीय मानते थे। उनकी 'बानियो' में नाथपथ की हठयोग सबधी साधना के प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। स्वभावत. इस विषय में सर्वा गीणता और स्पष्टता का अभाव है। अनुमान किया गया है कि कदाचित् प्रेम-भक्ति की आतरिक अनुभूति के बाद वे योग-साधना की अपेक्षा 'सहज साधना' को अधिक महत्त्व देने लगे थे। भक्ति की उपलब्धि में नि.सदह उन्हें स्वामी रामानन्द स प्रेरणा मिली थी। कबीर की कुछ बानियों में हठयोग के काया कष्ट की आलोचना भी मिलती है। वे सभी प्रकार के बाह्य कर्म-कांड क विरोधी थे। शरीर की निर्मलता के साथ-साथ उन्होंने मन की शुद्धि और आचरण की पवित्रता पर कहीं अधिक जोर दिया है। बाह्य आडबरो की निन्दा करते हुए उन्होंने तीर्थ-व्रत, पूजा-अर्चा, रोजा-नमाज सभी का तिरस्कार किया और इन सभी रूढ़ियों का खडन किया जो जीवन को जड बनाती हैं तथा मनुष्य को जाति-वर्ण और मत-मतातर की सीमाओं में जकड लती हैं। उन्होंने किसी सप्रदाय की स्थापना नहीं की। यह अवश्य है कि उनक शिष्यो ने उनके नाम पर कबीर पथ चलाया और एक प्रकार का कर्म-कांड विकसित किया। कालांतर में निर्गुन उपासना क अनेकानेक छोटे-बडे सप्रदाय प्रचलित होते रहे, जिनकी परपरा आज तक चली आती है। इन सभी के मूलभूत विश्वासों के आदिस्रोत कबीर ही हैं।

कबीर की रचना तीन रूपो में मिलती है—उनकी 'साखियो' में जो दोहा छद में रची गई है, उनके व्यापक अनुभव और उन पर आधारित उपदेश मार्मिक उक्तियो के रूप म दिये गए है, उनके 'सबद' जो गेय पदो के रूप में है, प्रायः आध्यात्मिक प्रेम की अनुभूति व्यजित करते हैं, तथा चौपाई छद में रची उनकी 'रमैनी' में प्रायः सिद्धात-कथन तथा हृदयोद्गार सकलित है। कबीर की रचना के उस अश को छोड कर जिसमें निरा सिद्धात-प्रतिपादन या कोरी उपदेशात्मकता है, उनकी वाणी सच्चे काव्य-गुणो से समन्वित है। भले ही उसमें परपरागत काव्यालकार न हो, हृदय की सच्ची अनुभूति और अटल विश्वास ऐसी शक्ति और ओजस्विता से व्यक्त हुए हैं कि उनका प्रभाव सीधा हृदय पर पडता है। उनकी अनुभूति इतनी तीव्र होती है कि वह स्वय प्रभावशाली रूप में व्यक्त होने के लिए शब्द खोज लेती है। इसी कारण उनकी रचना, कभी-कभी बाह्य रूप मे अनगढ लगते हुए भी, सीधी और सरल होती है। उनका बाह्य-जगत् का अनुभव इतना विस्तृत और खरा है कि उनकी वाणी मे सहज ही मार्मिकता और स्पष्टता आ जाती है। किन्तु उनका आध्यात्मिक चितन और प्रेम की साधना इतनी सूक्ष्म और गूढ है कि उनके शब्दो में प्रायः अपार व्यजना, साकेतिकता और रहस्यात्मकता आ गई है। साधु-सग से कबीर को जिस लोक प्रचलित भाषा की परपरा मिली थी उसमें भोजपुरी, अवधी, ब्रज, खडीबोली ही नही, राजस्थानी और पजाबी तक का मिश्रण पाया जाता है। इस 'सधुक्कडी' कही जाने वाली भाषा की शक्ति और व्यजना का कबीर ने भरपूर उपयोग किया।

अपने इन्ही गुणो के कारण कबीर हिन्दी काव्य की एक प्रबल धारा के प्रवर्तक हुए।

———

साखी

सतगुर लई कमाण करि, बांहण लागा तीर।
एक जु बाह्या प्रीति सूँ, भीतरि रह्या सरीर॥

सतगुर मार्‌या बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि।
अंगि उघाड़ै लागिया, गई दवा सूँ फूटि॥

गूँगा हूवा बावला, बहरा हूवा कान।
पाऊँ थैं पंगुल भया, सतगुर मार्‌या बाण॥

पीछैं लागा जाइ था, लोक वेद के साथि।
आगैं थैं सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि॥

दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहुणा, बहुरि न आँवौं हट्ट॥

पूरे सूँ परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि।
निर्मल कीन्हीं आत्मां, ताथैं सदा हजूरि॥

तूं तूं करता तूं भया, मुझ मैं रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूं॥

कबीर सूता क्या करै, उठि न रोवै दुक्ख।
जाका बासा गोर मैं, सो क्यूँ सोवै सुक्ख॥

कबीर चित चमंकिया, चहुँ दिसि लागी लाइ।
हरि सुमिरण हाथूं घड़ा, बेगे लेहु बुझाइ॥

बिरहनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कबर मिलैंगे आइ॥

जिहि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या।
तिहि सरि अजहूँ मारि, सर बिन सच पाऊँ नहीं॥

बिरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागै कोइ।
राम वियोगी ना जिवै, जिवै त बौरा होइ॥

बिरह भुवंगम पैसि करि, किया कलेजै घाव।
साधू अंग न मोड़ही, ज्यूं भावै त्यूं खाव।

अंषड़ियाँ झाईं पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि-पुकारि॥

जौ रोऊँ तौ बल घटै, हँसौं तौ राम रिसाइ।
मन ही माँहि बिसूरणां, ज्यूं घुंण काठहि खाइ॥

हँसि-हँसि कंत न पाइए, जिनि पाया तिनि रोइ।
जे हाँसे ही हरि मिले, तौ नहीं दुहागनि कोइ॥

सुखिया सब संसार है, खायै अरू सोवै।
दुखिया दास कबीर हैं, जागै अरू रोवै॥

मार्या है जे मरैगा, बिन सर थोथी भालि।
पड़्या पुकारै ब्रिछ तरि, आजि मरै कै काल्हि॥

हिरदा भीतरि दौं बलै, घूंवां न प्रगट होइ।
जाकै लागी सो लखै, कै जिहि लाई सोइ॥

झल ऊठी झोली जली, खपरा फूटिम फूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही बिभूत॥

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नांहि।
सब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या मांहि॥

जा कारणि मैं ढूंढता, सनमुख मिलिया आइ।
धन मैली, पिव उजला, लागि न सकौं पाइ॥

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
समंद समाना बूंद में, सो कत हेर्‌या जाइ॥

आसा एक जु राम की, दूजी आस निरास।
पांणी मांहैं घर करैं, ते भी मरैं पियास॥

कबीर कहा गरबियौ, देही देखि सुरंग।
बीछड़ियाँ मिलिबौ नहीं, ज्यूँ काँचली भुवंग॥

यहु तन तौ सब बन भया, करंम भए कुहाड़ि।
आप आप कूँ काटिहैं, कहै कबीर बिचारि॥

कुल खोयाँ कुल ऊबरै, कुल राख्यों कुल जाइ।
राम निकुल कुल भेंटिले, सब कुल रह्या समाइ॥

कबीर हृद के जीव सूँ, हित करि मुखां न बोलि।
जे लागे बेहद सूँ, तिन सूँ अंतर खोलि॥

कबीर नाव जरजरी, कूड़े खेवणहार।
हलके हलके तिरि गये, बूड़े तिनि सिर भार॥

मरतां मरतां जग मुवा, औसर मुवा न कोइ।
कबीर ऐसैं मरि मुवा, ज्यूँ बहुरि न मरना होइ॥

बैद मुवा, रोगी मुवा, मुवा सकल संसार।
एक कबीरा ना मुवा, जिनि के राम अधार॥

पद

पंडित बाद बदंते झूठा।
राम कह्यां दुनियाँ गति पावै, षांड कह्यां मुख मीठा॥
पावक कह्यां पाव जे दाझै, जल कहि त्रिषा बुझाई।
भोजन कह्यां भूष जे भाजै, तौ सब कोइ तिरि जाई॥

नर कै साथि सूवा हरि बोलै, हरि परताप न जानै।
जो कबहु उड़ि जाइ जंगल मैं, बहुरि न सुरतैं आनै॥
साचो प्रीति विषै माया सूं, हरि भगतनि सूं हासी।
कहै कबीर प्रेम नहि उपज्यौ, बांध्यौ जमपुरि जासी॥

हंम तौ एक एक करि जानां।
दोइ कहैं तिनहीं कौं दोजग, जिनि नांहिन पहिचानां॥
एकै पवन, एक ही पांनीं, एक जोति संसारा।
एक ही खाक घड़े सब भाडे, एक ही सिरजनहारा॥
जैसैं बाढ़ी काष्ट ही काटै, अगिनि न काटै कोई।
सब घटि अंतरि तूं ही व्यापक, धरै सरूपैं सोई॥
माया मोहे अर्थ देखि करि, काहे कूं गरबांनां।
निरभै भया, कछू नहीं व्यापै, कहै कबीर दिवांनां॥

डगमग छाड़ि दे मन बौरा।
अब तौ जरें वरें बनि आवै, लीन्हौं हाथ सिंधौरा॥
होइ निसंक मगन ह्वै नाचौ, लोभ मोह भ्रम छाड़ौ।
सूरौ कहा मरन थैं डरपै, सती न सचैं भांड़ौ॥
लोक वेद कुल की मरजादा, इहै गलै मैं पासी।
आधा चलि करि पीछा फिरिहै, ह्वै है जग मैं हासी॥
यहु ससार सकल है मैला, रांम कहैं ते सूचा।
कहै कबीर नाव नहीं छाड़ौं, गिरत परत चढ़ि ऊँचा॥

तेरा जन एक आध है कोई।
काम, क्रोध अरु लोभ बिवर्जित, हरिपद चीन्हैं सोई॥
राजस तांमस सातिग तीन्यूं, ये सब तेरी माया॥
चौथे पद कौं जे जन चीन्हैं, तिनहि परम पद पाया॥
असतुति निंदा आसा छाड़ै, तजै मान अभिमानां।
लोहा कचन समि करि देखै, ते मूरति भगवानां॥

च्यतै तौ माधौ च्यतामणि, हरिपद रमैं उदासा।
त्रिस्नां अरु अभिमांन रहित है, कहै कबीर सो दासा ।।

चलत कत टेढौ टेढौ रे।
नऊँ दुवार नरक धरि मूँदे, तू दुरगंधि कौ वेढौ रे ।।
जे जारै तौ होइ भसम तन, रहित किरम जल खाई।
सूकर स्वॉन काग कौ भखिन, तामें कहा भलाई ।।
फूटे नैंन हिरदै नहीं सूझै, मति एकै नहीं जांनी।
माया मोह ममिता सूँ बॉध्यौ, बूड़ि मुवौ बिन पांनी ।।
बारू के घरवा मैं बैठो, चेतत नहीं अयांनां।
कहै कबीर एक रांम भगति बिन, बूड़े बहुत सयांना ।।

अरे परदेसी, पीव पिछांनि।
कहा भयौ तोकौं समझि न परई, लागी कैसी बॉनि ।।
भोमि बिडाणी में कहा रातौ, कहा कियो कहि मोहि।
लाहै कारनि मूल गमावै, समझावत हूँ तोहि ।।
निस दिन तोहि क्यूँ नींद परत है, चितवत नाही ताहि।
जंम से बैरी सिर परि ठाढ़े, पर हथि कहा बिकाइ ।।
झूठे परपंच मैं कहा लागौ, ऊठै नाहीं चालि।
कहै कबीर कछू बिलम न कीजै, कौनैं देखी कालि ।।

प्रश्न

(१) कबीर के अनुसार मनुष्य-जीवन का क्या उद्देश्य है ? अपना उत्तर उदाहरणों से पुष्ट कीजिए।

(२) 'कबीर साम्प्रदायिकता के विरोधी तथा मानव-धर्म के उन्नायक थे।' इस कथन पर विशद रूप से विचार कीजिए।

(३) पठित रचना से उदाहरण छाँट कर सिद्ध कीजिए कि कबीर की रचना में अलंकार युक्त मार्मिक उक्तियों का प्रयोग सहज रूप में हुआ है।

मलिक मुहम्मद जायसी

(समय—सोलहवीं शताब्दी का प्रारंभ)

जायस, जिला रायबरेली के निवासी होने के कारण मलिक मुहम्मद 'जायसी' नाम से प्रसिद्ध हुए। एक जनश्रुति के अनुसार वे गाजीपुर के

एक दरिद्र घर में उत्पन्न हुए थे। सात वर्ष की अवस्था मे चेचक निकलने के कारण उनकी एक आँख, शायद बाईं आँख, जाती रही थी और वे बहुत कुरूप हो गए थे। उनके माता-पिता भी बाल्यावस्था में ही मर गए। अनाथ हो कर वे सूफी फकीरों का सत्सग करने लगे और प्रसिद्ध सूफी सत शेख निजामुद्दीन औलिया की दसवी शिष्य-परपरा के शेख मोहीउद्दीन के शिष्य हो गए। मुसलमान सतों के अतिरिक्त हिंदू साधुओं के सत्सग का भी उन्हें खूब अवसर मिला था और उनसे उन्होंने हठयोग, रसायन, वेदात आदि की बहुत-सी बातो की जानकारी प्राप्त की थी। उनके विचार बहुत उदार थे तथा उनका स्वभाव अत्यत कोमल और विनय-शील था। बहुत से लोग उन्हें सिद्ध मान कर उनके शिष्य हो गए। अमेठी के राजा ने उनके 'पद्मावत' का 'बारहमासा' सुना और वह इतना मुग्ध हुआ कि उसने मलिक मुहम्मद को अपने यहाँ बुला लिया। वहीं पर उन्होंने 'पद्मावत' समाप्त किया। 'पद्मावत' में उसका रचना-काल सन् १५४० ई० दिया है। इस समय शेरशाह सूरी का राज्य था।

जायसी की पहली रचना 'अखरावट' है जिसमें सूफी सिद्धातो का व्याख्यान किया गया है। 'आखिरी कलाम' नाम की दूसरी कृति में जायसी ने कयामत (प्रलय) का वर्णन किया है। भक्ति-वैराग्य सबधी उनके बाईस गीतों का एक अन्य सग्रह भी हाल में प्रकाश में आया है। किंतु जायसी की

कीर्ति का स्तंभ तो उनकी अमर रचना 'पद्मावत' ही है। इसमें चित्तौड़गढ़ के राजा रत्नसेन तथा सिंहलगढ़ की राजकुमारी पद्मावती की प्रेम-कथा का वर्णन है। अनेक विघ्न-बाधाओं को पार करके रत्नसेन का पद्मावती को सिंहलद्वीप से ब्याह लाना तथा राज-सभा के पंडित राघव चेतन का देश से निकाला जाना एक प्राचीन लोक-कथा के आधार पर दिया गया है जो अपभ्रंश काव्य में भी पाई जाती है। जायसी ने उस लोक-कथा को सुविधानुसार परिवर्तित करके तथा उसे अलाउद्दीन के चित्तौड़-आक्रमण की ऐतिहासिक् घटना पर आधारित कथा से जोड़ कर 'पद्मावत' के कथानक का निर्माण किया है। राघव चेतन के दिल्ली जाने के बाद से पद्मावती और नागमती के सती होने तक की कथा का मुख्य आधार ऐतिहासिक माना जाता है। 'पद्मावत' एक बड़ा प्रबन्ध काव्य है जिसका रचना फारसी के वर्णनात्मक काव्य 'मसनवी' के आदर्श पर हुई है।

मलिक मुहम्मद एक सच्चे भक्त-हृदय कवि थे। पद्मावत् की कथा उन्होंने अत्यंत रोचक ढंग से उपस्थित की है। सूक्ष्म से सूक्ष्म विवरण देकर उन्होंने अपनी वर्णन-कुशलता प्रकट की है, मनोभावों का यथार्थ चित्रण करके अपने हृदय की सच्ची भावुकता का परिचय दिया है तथा भाषा-शैली की स्वाभाविक मिठास सुरक्षित रखते हुए प्रायः ऐसे अलंकारों का प्रयोग किया है जिनसे उनकी विद्वत्ता और सौंदर्य-प्रियता का तो प्रमाण मिलता ही है, यह भी विदित होता है कि वे कितनी ऊँची और सूक्ष्म कल्पना कर सकते हैं। किंतु इन काव्य-गुणों के अतिरिक्त 'पद्मावत' में जिस प्रेम का चित्रण किया गया है उसकी गूढ़ता और व्यापकता अनुपम है। लौकिक प्रेम के वर्णन में अत्यंत सूक्ष्म संकेतों के द्वारा उन्होंने अलौकिकता की ऐसी व्यंजना की है कि पाठक का मन सहसा अत्यंत उच्च धरातल पर पहुँच जाता है। विशेषता यह है कि अन्य भक्ति विषयक रचनाओं की भाँति 'पद्मावत' का काव्य दार्शनिकता तथा सिद्धांतवाद से कहीं बोझिल नहीं हुआ। उसकी जैसी अबाधित सरसता किसी अन्य रचना में मिलनी कठिन है। यह अवश्य है कि हिंदू धर्म का शास्त्रीय ज्ञान न होने के कारण उनमें कहीं-कहीं

भूलें हो गई हैं और इसी कारण हिंदू-परंपराओं के प्रति सहानुभूति की भी यत्र-तत्र कमी जान पड़ती है। फ़ारसी काव्य की लाक्षणिक शैली से जायसी ने पर्याप्त लाभ उठाया है, किंतु उसके अलंकार-विधान से अपरिचित पाठकों को कुछ प्रयोग चित्य और संस्कृति-च्युत भी लग सकते हैं। फिर भी, पद्मावत किसी भी सहृदय पाठक को निःसंदेह रस-मग्न करने की क्षमता रखता है। अवधी भाषा की जैसी मृदुलता और स्निग्धता जायसी में मिलती है, अन्यत्र नहीं मिल सकती। हिंदी साहित्य में प्रेमाख्यानों की परंपरा जायसी से पहले प्रारंभ हो गई थी और बाद में लंबे काल तक चलती रही। किंतु 'पदमावत' उनमें मुकुट-मणि है। उचित ही है कि उसे हिंदी के चुने हुए सर्वश्रेष्ठ काव्यों में गिना जाता है।

अनुराग

बरनि सिंगार न जानेउ, नखसिख जैस अभोग।
तस जग किछौ न पावौं, उपमा देउँ ओहि जोग॥

सुनतहि राजा गा मुरुझाई। जानहुँ लहरि सुरुज कै आई॥
पेम घाव दुख जान न कोई। जेहि लागै जानै पै सोई॥
परा सो पेम समुद्द अपारा। लहरहि लहर होइ बिसँभारा॥
बिरह भँवर होइ भाँवरि देई। खिन खिन जीव हिलोरहि लेई॥
खिनहि निसास बूड़ि जिउ जाई। खिनहि उठै निसँसै बौराई॥
खिनहि पीत खिन होइ मुख सेता। खिनहि चेत खिन होइ अचेता॥
कठिन मरन तें पेम बेवस्था। ना जिअँ जिवन न दसईं अवस्था॥

जनु लेनिहारन्ह लीन्ह जिउ, हरहिं तरासहिं ताहि।
एतना बोल न आव मुख, करहि तराहि तराहि॥

जहँ लगि कुटुँब लोग औ नेगी। राजा राय, आए सब बेगी॥
जाँवत गुनी, गारुरी आए। ओझा, बैद, सयान बोलाए॥
चरचहिं चेष्टा, परिखहिं नारी। निअर नाहिं ओषद तेहि बारी॥
है राजहिं लछ्मन कै करा। सकति बान मोहा है परा॥
नहिं सो राम, हनिवँत बड़ि दूरी। को लै आव सजीवनि मूरी॥
बिनौ करहिं जेते गढ़पती। का जिउ कीन्ह, कवनि मति मती॥
कहहु सो पीर काह बिनु खाँगा। समुँद सुमेरु आव तुम्ह माँगा॥

धावन तहाँ पठावहु, देहिं लाख दस रोक।
है सो बेलि जेहि बारी, आनहिं सबै बरोक॥

जौं भा चेत, उठा बैरागा। बाउर जनहुँ सोइ अस जागा॥
आवत जगत बालक जस रोआ। उठा रोइ, हा ग्यान सो खोआ॥

हौं तो अहा अमरपुर जहाँ। इहाँ मरनपुर आएउँ कहाँ॥
केइँ उपकार मरन कर कीन्हा। सकति जगाइ जीउ हरि लीन्हा॥
सोवत अहा जहाँ सुख सारा। कस न तहाँ सोवत विधि राखा॥
अब जिउ तहाँ, इहाँ तन सूना। कब लगि रहै परान बिहूना॥
जौ जिउ घटिहि काल के हाथाँ। घटन नीक पै जीउ निसाथाँ॥
अहुठ हाथ तन सरवर, हिया कँवल तेहि माँह।
नैनन्हि जानहु निअरे, कर पहुँचत अवगाह॥
सबन्हि कहा मन समझहु राजा। काल सते के जूझि न छाजा॥
तासौं जूझि जात जो जीता। जात न किरसुन तजि गोपीता॥
औ नहि नेहु काहु सौं कीजै। नाउँ मीठ, खाएँ जिउ दीजै॥
पहिलेहिं सुक्ख नेहु जब जोरा। पुनि होइ कठिन निबाहत ओरा॥
अहुठ हाथ तन जैस सुमेरू। पहुँचि न जाइ, परा तस फेरू॥
गँगन दिस्टि सौं जाइ पहूँचा। पेम अदिस्ट गँगन सौं ऊँचा॥
धुव तें ऊँच, पेम धुव ऊआ। सिर दै पाउ देइ सो छुवा॥
तुम्ह राजा औ सुखिआ, करहु राज सुख भोग।
एहि रे पंथ सो पहुँचे, सहै जो दुक्ख बियोग॥
सुऐं कहा मन समुझहु राजा। करत पिरीत कठिन है काजा॥
तुम्ह अबहीं जेइँ घर पोईं। कँवल न बैठि, बैठ हहु कोईं॥
जानहि भँवर जो तेहि पँथ लूटे। जीउ दीन्ह औ दिएँ न छूटे॥
कठिन आहि सिंघल कर राजू। पाइअ नाहिं राज के साजू॥
ओहि पथ जाइ जो होइ उदासी। जोगी, जती, तपा, सन्यासी॥
भोग जोरि पाइत वह भोगू। तजि सो भोग कोइ करत न जोगू॥
तुम्ह राजा चाहहु सुख पावा। जोगहि, भोगहि कत बनि आवा॥
साधन्ह सिद्धि न पाइअ, जौ लहि साध न तप्प।
सोई जानहिं बापुरे, जो सिर करहिं कलप्प॥
का भा जोग कहानी कथें। निकसै न घिउ बाजु दधि मथें॥
जौं लहि आपु हेराइ न कोई। तौ लहि हेरत पाव न सोई॥

पेम पहार कठिन विधि गढ़ा। सो पै चढ़ै, सीस सों चढ़ा॥
पथ सूरिन्ह कर उठा अँकूरू। चोर चढ़ै, कि चढ़ै मसूरू॥
तू राजा का पहिरसि कथा। तोरे घटहि माँह दस पथा॥
काम, क्रोध, तिस्ना, मद, माया। पाँचो चोर न छाँड़हिं काया॥
नव सेंधैं ओहि घर मँझिआरा। घर मूसहिं निसि कै उजियारा॥

अबहूँ जागु अजाने, होत आव निसु भोर।
पुनि किछु हाथ न लागिहि, मूसि जाहि जब चोर॥

सुनि सो बात राजा मन जागा। पलक न मार, पेम चित लागा॥
नैनन्हि ढरहिं मोति औ मूँगा। जस गुर खाइ रहा होइ गूँगा॥
हिएँ की जोति दीप वह सूझा। यह जो दीप अँधिअर भा बूझा॥
उलटि दिस्टि माया सौं रूठी। पलटि न फिरी जानि कै झूठी॥
जौ पै नाहीं अथिर दसा। जग उजार, का कीजै बसा॥
गुरु बिरह चिनगी पै मेला। जो सुलगाइ लेइ सो चेला॥
अब कै फनिग भृङ्गि कै करा। भँवर होउँ जेहि कारन जरा॥

फूल फूल फिरि पूछौं, जौं पहुँचौं ओहि केत।
तन नेवछावर कै मिलौं, ज्यों मधुकर जिउ देत॥

बसन्त

दैय दैय कै सिसिर गँवाई। सिरी पचिमी पूजी आई॥
भएउ हुलास नवल रितु माँहाँ। खिनु न सोहाइ धूप औ छाहाँ॥
पदुमावति सब सखी हँकारीं। जावँत सिंघल दीप की बारीं॥
आजु बसन्त नवल रितुराजा। पचिमि होइ जगत सब साजा॥
नवल सिंगार बनाफति कीन्हा। सीस परासन्ह सेंदुर दीन्हा॥
बिगसि फूल फूले बहु बासा। भँवर आइ लुबुधे चहुँ पासा॥
पियर पात दुख झरे निपाते। सुख पालौ उपने होइ राते॥

अवधि आइ सो पूजी, जो इछा मन कीन्ह।
चलहु देव मढ गोहने, चहौं सो पूजा दीन्ह॥

फिरी आन रितु बाजन बाजे । औ सिंगार सब बारिन्ह साजे ॥
कँवल करी पदुमावति रानी । होइ मालति जानहुं बिगसानी ॥
तारा मँडर पहिर भल चोला । पहिरे ससि जस नखत अमोला ॥
सखी कमोद सहस दस संगा । सबै सुगंध चढ़ाए अंगा ॥
सब राजा रायन्ह के बारीं । बरन बरन पहिरे सब सारीं ॥
सबै सुरूप पदुमिनी जाती । पान, फूल, सेंदुर सब राती ॥
करहिं कुरेरैं सुरंग रँगीलीं । औ चोवा चंदन सब गीलीं ॥

चहुं दिसि रही बासना, फुलवारी अस फूलि ।
वह बसंत सौं भूली, गा बसंत ओहिं भूलि ॥

* * * *

फर फूलन्ह सब डारि ओनाईं । झुंड बांधि कै पंचमि गाईं ॥
बाजे ढोल, डंड औ भेरी । मदिर, तूर, झाँझ चहुं फेरी ॥
संख, सींग, डफ संगम बाजे । बंसकारि, महुवर सुर साजे ॥
औरु कहा जेत बाजन भले । भाँति भाँति सब बाजत चले ॥
रथन्ह चढ़ीं सब रूप सोहाईं । लै बसंत मढ़ मँडप सिधाईं ॥
नवल बसंत, नवल वै बारीं । सेंदुर बुक्का होइ धमारीं ॥
खिनहिं चलहि, खिन चाँचरि होई । नाँच कोड भूला सब कोई ॥

सेंदुर खेह उठा तस, गगन भएउ सब रात ।
राति सकल महि धरती, रात बिरिख बन पात ॥

एहि बिधि खेलत सिंघल रानी । महादेव मढ़ जाइ तुलानी ॥
सकल देवता देखैं लागे । दिस्टि पाप सब तिन्हके भागे ॥
ये कबिलास सुनी अछरीं । कहँ हुत आईं परमेसरीं ॥
कोई कहै पदुमिनीं आईं । कोइ कहै ससि नखत तराईं ॥
कोई कहै फूल फुलवारी । भूले सबै देखि सब बारीं ॥
एक सुरूप औरु सेंदुर सारे । जानहुं दिया सकल महि बारे ॥
मुर्छि परे जोंवत जे जोहे । जानहुं मिरिग देवारी मोहे ॥

कई परा भँवर होइ, बास लीन्ह जनु चाँप।
कोई पतंग भा दीपक, होइ अधजर तन काँप॥

पदुमावति गै देव दुआरू। भीतर मँडप कीन्ह पैसारू॥
देवहि संसौ भा जिय केरा। भागौं केहि दिसि, मंडप घेरा॥
एक जोहार कीन्ह औ दूजा। तिसरें आइ चढ़ाएन्हि पूजा॥
फर फूलन्ह सब मँडप भरावा। चंदन, अगर देव नहवावा॥
भरि सेंदुर आगें होइ खरी। परसि देव, औ पाएन्ह परी॥
औरु सहेलीं सबै बियाहीं। मो कहँ देव कतहुँ बर नाहीं॥
हौं निरगुनि जेइँ कीन्हि न सेवा। गुनि निरगुनि दाता तुम्ह देवा॥

बर सजोग मोहि मेरवहु, कलस जाति हौं मानि।
जेहि दिन इंछा पूजै, बेगि चढ़ावौं आनि॥

इछि इंछि बिनई जसि जानी। पुनि कर जोरि ठाढ़ि भै रानी॥
उतर को देइ देव मरि गएऊ। सबद अकूट मँडप महँ भएऊ॥
काटि पवारा जैस परेवा। मर भा ईस औरु को देवा॥
भए बिनु जिउ नावत औ ओझा। बिख भइ पूरि काल भा गोझा॥
जो देखैं जनु बिसहर डँसा। देखि चरित पदुमावति हँसा॥
भल हम आइ मनावा देवा। गा जनु सोई, को मानै सेवा॥
को इंछा पुरवै दुख धोवा। जेहि मनि आए सो तनि तनि सोवा॥

जेहि धरि सखी उठावहिं, सीस बिकल तेहि डोल।
धर कोइ जीव न जानै, मुख रे बकत कुबोल॥

तवखन आइ सखो बिहसानी। कौतुक एक न देखहु रानी॥
पुरुब बार कोइ जोगी छाए। न जनौं कौन देस सौं आए॥
जनु उन्ह जोग तत अब खेला। सिद्ध होइ निसरे सब चेला॥
उन्ह महँ एक जो गुरू कहावा। जनु गुर दै काहूँ बौरावा॥
कुँवर बतीसौ लक्खन राता। दसएँ लखन कहै एक बाता॥
जानहुँ आहि गोपिचंद जोगी। कै सो भरथरि आहि बियोगी॥
वै पिंगला गए कजरी आरन। यह सिंघल दहुँ सो केहि कारन॥

यह मूरति, यह मुंद्रा, हम न देखा औधूत।
जानहु होहिं न जोगी, केहु राजा के पूत॥

सुनि सो बात रानी सिउँ चढ़ी। कहाँ सो जोगी देखौं मढ़ी॥
लै संग सखी कीन्ह तहँ फेरा। जोगिहि आइ जनु अछरिन्ह घेरा॥
नैन चकोर, पेम मद भरे। भइ सुदिस्टि जोगी सौं ढरे॥
जोगीं दिस्टि दिस्टि सो लीन्हा। नैन रूप नैनन्ह जिउ दीन्हा॥
जो मधु चहत परा तेहि पाले। सुधि न रही ओहि एक पियाले॥
परा माँति गोरख का चेला। जिउ तन छाँड़ि सरग कहँ खेला॥
किंगरी गहे जु हुत वैरागी। मरतिहुँ बार उहै धुनि लागी॥

जेहि धंधा जाकर मन लागै, सपनेहु सूझ सो धंध।
तेहि कारन तपसी तप साधहि, करहिं पेम मन बंध॥

पदुमावति जस सुना बखानू। सहसहु कराँ देखा तस भानू॥
मेलेसि चंदन, मकु खिनु जागा। अधिकौ सूत, सिअर तन लागा॥
तब चंदन आखर हियँ लिखे। भीख लेइ तुइँ जोगि न सिखे॥
बार आइ तब गा तैं सोई। कैसें भुगुति परापति होई॥
अब जौं सूर अहै ससि राता। आइहि चढ़ि सो गँगन पुनि साता॥
लिखि कै बात सखी सौं कही। इहै ठाउँ हौं बारति अही॥
परगट होउँ तौ होइ अस भगू। जगत दिया कर होइ पतंगू॥

जासौं हौं चख हेरौं, सोइ ठाउँ जिउ देइ।
एहि दुख कबहुँ न निसरौं, को हत्या असि लेइ॥

अवसान

पदुमावति नइ पहिरि पटोरी। चली साथ होइ पिय की जोरी॥
सूरुज छपा, रैनि होइ गई। पूनिवँ ससि सो अमावस भई॥
छोरे केस, मोंतिलर छूटे। जानहुँ रैनि नखत सब टूटे॥
सेंदुर परा जो सीस उघारी। आगि लाग जनु जग अँधियारी॥
एहि देवस हौं चाहति नाहाँ। चलौं साथ, बाहौं गलबाहाँ॥

सारस पंखि न जियै निनारे। हौं तुम्ह बिनु का जियौं पियारे॥
नेवछावरि कै तन छिरिश्रावौं। छार होइ सँग बहुरि न श्रावौं॥

दीपक प्रीत पतंग जेउँ, जनम निबाह करेउँ।
नेवछावरि चहुँ पास होइ, कंठ लागि जिउ देउँ॥

नागमती पद्मावति रानी। दुवौ महासत सती बखानी॥
दुवौ श्राइ चढ़ि खाट बईठीं। श्रौ सिवलोक परा तिन्ह डीठी॥
बैठौ कोइ राज श्रौ पाटा। श्रंत सबैं बैठिहि एहि खाटा॥
चंदन श्रगर काढ़ि सर साजा। श्रौ गति देइ चले लै राजा॥
बाजन बाजहिं होइ श्रकूता। दुश्रौ कंत लै चाहहिं सूता॥
एक जो बाजा भएउ बियाहू। श्रब दोसरें होइ श्रोर निबाहू॥
जियत जो जरहिं कंत की श्रासा। मुँए रहसि बैठहि एक पासा॥

श्राजु सूर दिन श्रँथवा, श्राजु रैनि ससि बूड़ि।
श्राजु नाँचि जिय दीजिश्र, श्राजु श्रागि हम जूड़ि॥

सर रचि दान पुन्नि बहु कीन्हा। सात बार फिरि भाँवरि दीन्हा॥
एक भँवरि भै जो रे बियाहीं। श्रब दोसरि दै गोहन जाहीं॥
लै सर ऊपर खाट बिछाई। पौढीं दुवौ कंत कँठ लाई॥
जियत कंत तुम्ह हम कँठ लाईं। मुए कठ नहि छाँड़हि सोई॥
श्रौ जो गाँठि कंत तुम्ह जोरी। श्रादि श्रंत दिन्हि जाइ न छोरी॥
एहि जग काह जो श्राथि निश्राथी। हम तुम्ह नाहँ दुहूँ जग साथी॥
लागीं कठ श्रागि दै होरी। छार भईं जरि श्रंग न मोरीं॥

रातीं पिय के नेह गईं, सरग भएउ रतनार।
जो रे उवा, सो श्रँथवा, रहा न कोइ ससार॥

श्रोइ सहगवन भईं जब ताईं। पातसाहि गढ़ छेंका श्राई॥
तब लगि सो श्रौसर होइ बीता। भए श्रलोप राम-श्रौ सीता॥
श्राइ साहि सब सुना श्रखारा। होइगा राति, देवस जो बारा॥
छार उठाइ लीन्हि एक मूठी। दीन्हि उड़ाइ, पिरिथमी मूठी॥

जौ लगि ऊपर छार न परई । तन लगि नाहि जो तिस्ना मरई ॥
सगरै कटक उठाई माँटी । पुल बाँधा जहँ जहँ गढ़ घाटी ॥
भा ढोवा, भा जूझि असूझा । बादिल आइ पँवरि होइ जूझा ॥
जौहर भई इस्तिरी, पुरुख भए संग्राम ।
पातसाहि गढ़ चूरा, चितउर भा इसलाम ॥

मुहमद यहि कबि जोरि सुनावा । सुना जो पेम पीर गा पावा ॥
जोरी लाइ रकत कै लेई । गाढी प्रीति नैन जल भेई ॥
औ मन जानि कबित अस कीन्हा । मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा ॥
कहाँ सो रतनसेनि अस राजा । कहाँ सुवा असि बुधि उपराजा ॥
कहाँ अलाउदीन सुलतानू । कहँ राघौ जेइँ कीन्ह बखानू ॥
कहँ सुरूप पदुमावति रानी । कोइ न रहा, जग रही कहानी ॥
धनि सो पुरुख जस कीरति जासू । फूल मरै, पै मरै न बासू ॥
केइँ न जगत जस बेंचा, केइँ न लीन्ह जस मोल ।
जो यह पढ़ै कहानी, हम सँवरै दुइ बोल ॥

प्रश्न

(१) जायसी को प्रेम-पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ बतलाइए । भारतीय परपराओं से वह कहाँ तक भिन्न है ?

(२) मलिक मुहम्मद की भावुकता के कौन-से प्रमाण आप उनके काव्य में पाते हैं ?

(३) पद्मावत की भाषा के माधुर्य और शैली की व्यंजकता का निरूपण कीजिए ।

———

सूरदास

(सन् १४७८–१५८० ई०)

कहा जाता है कि सूरदास दिल्ली के समीप सीही गाँव में उत्पन्न हुए थे। उनके माता-पिता अत्यन्त निर्धन थे, अतः उन्होंने बाल्यावस्था में ही घर छोड़ दिया था। यह तो निश्चित ही है कि वे अंधे थे, किन्तु जन्मांध थे या नहीं इस विषय में मतभेद है। इसी प्रकार उनकी जाति के विषय में भी मतैक्य नहीं है। अधिकांश विद्वान् उन्हें सारस्वत ब्राह्मण मानते हैं। इतना निश्चित है कि वे सन्यास लेकर अपने अनेक सेवकों के साथ गऊघाट पर रहते थे जो आगरा और मथुरा के बीच यमुना-तट पर है। यहीं, जब वे लगभग ३०-३२ वर्ष के थे गोपाल कृष्ण की भक्ति के प्रचारक महाप्रभु वल्लभाचार्य ने उन्हें सेवकों सहित अपने पुष्टिमार्ग नामक भक्ति

सम्प्रदाय में दीक्षित किया और गोवर्धनस्थित अपने इष्टदेव श्रीनाथ जी के मंदिर में ले जा कर कीर्तन-सेवा का कार्य सौंप दिया। बाद में वल्लभाचार्य के पुत्र और उत्तराधिकारी गोसाईं विट्ठलनाथ ने जिन आठ भक्तों को 'अष्टछाप' नाम से प्रसिद्ध किया उनमें सूरदास प्रथम स्थान के अधिकारी हुए। उनके काव्य और भक्ति की प्रशंसा सुन कर, कहते हैं, सम्राट् अकबर ने भी उनसे भेंट की थी। सूरदास आजीवन ब्रज में ही रहे। गोवर्धन के ही निकट पारसोली गाँव के चन्द्र सरोवर पर, जो श्रीकृष्ण की रासलीला-भूमि बताई जाती है उन्होंने राधाकृष्ण का ध्यान करते हुए शरीर छोड़ा।

सूरदास की रचना 'सूरसागर' प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि सूरदास ने सवा लाख पद रचे थे। किन्तु सूरसागर की हस्तलिखित और मुद्रित प्रतियो में अधिक से अधिक लगभग पाँच हजार पद मिलते हैं। परिमाण की दृष्टि से यह किसी अन्य कवि की रचना से कम नही है। सूरसागर के अतिरिक्त सूरदास की 'सूरसागर सारावली' और 'साहित्य लहरी' नामक दो छोटी-छोटी रचनाएँ और बताई जाती हैं। किन्तु इनकी प्रामाणिकता सर्वस्वीकृत नही है।

सूरसागर को सूरदास के स्फुट पदों का सग्रह मात्र नहीं समझना चाहिए। 'विनय' और 'रामकथा' सबधी स्फुट पदो को छोड कर उसके लगभग सभी पद व्रज-वल्लभ श्रीकृष्ण के सपूर्ण लीला-काव्य के अग है और उनका पूरा रसास्वादन कथा के समुचित सदर्भ में ही सभव है। सूरदास ने इस लीला-काव्य में श्रीकृष्ण-जन्म से लेकर उनके मथुरा-प्रवास और फिर द्वारका-प्रवास तक की कथा अनुपम विविधता और सुन्दरता के साथ उपस्थित की है। काव्य का अंत कुरुक्षेत्र में कृष्ण-व्रजवासी मिलन के अतर्गत राधा-माधव के एकाकार हो जाने के वर्णन के साथ होता है। इस बृहद् गीति-प्रबध के अतर्गत अनेक छोटे-बड़े ऐसे कथात्मक और वर्णनात्मक खड-काव्य, जैसे माखन-चोरी लीला, कालिय-दमन लीला, गोवर्धन लीला, दधि-दान लीला, मान लीला, पावस-समय, भ्रमरगीत आदि-आदि नामो से पृथक् रूप मे भी मिलते हैं। सूरसागर के कृष्णलीला-काव्य का प्रेरणा-स्रोत श्रीमद्भागवत है। किंतु भागवत के कथा-प्रसगो को अभूतपूर्व विस्तार देकर सूरदास ने जिस सजीव चित्रणात्मक शैली में उपस्थित किया है उससे उनकी पूर्ण मौलिकता प्रमाणित होती है। सूरसागर में कृष्ण-लीला सम्बन्धी अनेक प्रसग ऐसे भी है जिनका भागवत में सकेत तक नही है। राधा सम्बन्धी सभी प्रसग मौलिक है। कृष्ण-लीला के बाद सूरसागर के 'विनय' के पद बहुत महत्त्वपूर्ण है। इनमें कवि का आत्म-निवेदन बड़ी घनिष्ठता और दीनता के साथ व्यक्त हुआ है। रामकथा सम्बन्धी स्फुट पदो में भी सूरदास की भावुकता अत्यत मार्मिक रूप में दिखाई देती है।

सूरदास को महाप्रभु वल्लभाचार्य ने कृष्ण-भक्ति में दीक्षित किया था और कदाचित् उन्ही की कृपा से वे विनय के पदो मे व्यक्त की गई दीनता के स्थान पर रस और आनन्द की मूर्ति श्रीकृष्ण की लीला का गान करने लग

थे। वे मध्ययुग की कृष्ण-भक्ति के प्रतिनिधि कवि और हिन्दी कृष्ण-काव्य के आधार-स्रोत हैं। भक्ति का यह रूप साध्य और साधन का समन्वय तथा स्वतःपूर्ण माना जाता है। कर्म और ज्ञान इसी में निहित हैं तथा वैराग्य इसमें सहज सुलभ है। इसका एकमात्र लक्षण भाव या प्रेम है और वह किसी प्रकार का हो सकता है। भाव कृष्ण की कृपा से ही प्राप्त होता है। किन्तु कृष्ण का रूप और उनका क्रिया-कलाप इतना सुन्दर और मनोहर है कि उनसे प्रेम करते ही बनता है। कृष्ण के क्रिया-कलाप को 'लीला' इसलिए कहते हैं कि उसका उद्देश्य एकमात्र आनन्द की अभिव्यक्ति है, वह भक्तों को ब्रह्म का परम आनन्दमय रूप दिखाने के लिए ही प्रकट होती है। 'राधा' इस ब्रह्म की आनंदिनी शक्ति है।

कृष्ण के इस रूप को चित्रित करने के कारण सूरदास की रचना स्वयमेव रसमय काव्य बन गई। उनकी शिशु और बाल लीला वात्सल्य रस से आप्लावित है जिसके सबसे बड़े अधिकारी यशोदा और नन्द हैं। सहचरों के साथ उनके क्रीडा-विनोद और उनकी गोचारण सम्बन्धी लीला सख्य भाव के प्रेम से परिपूर्ण है, जिसका रस उनके साथी गोप सखा जानते हैं। राधा और गोपियों से सम्बन्धित उनकी लीला सबसे अधिक विस्तृत और विविध है और उसमें भक्ति रस का सबसे ऊँचा भाव माधुर्य व्यक्त हुआ है। इन भावों के अन्तर्गत सूरदास ने मनुष्य के स्वाभाविक मनोभावों तथा उनकी यथार्थ परिस्थितियों का अनुपम चित्रण किया है। सुन्दरता के परखने में सूरदास की दृष्टि इतनी पैनी थी कि आश्चर्य होता है। भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था। उनकी ब्रजभाषा अत्यन्त परिमार्जित और व्यंजनापूर्ण है। उनकी अलंकार-योजना बड़ी स्वाभाविक और सौन्दर्य-सम्पन्न है। उनकी भाषा-शैली में वर्ण्य-विषय के अनुरूप अद्भुत विविधता है और इसी प्रकार उनके पदों में अनेकानेक छंद वर्ण्य-विषय के अनुसार प्रयुक्त हुए हैं।

कृष्ण-भक्ति ने हमारे जर्जर और विशृंखल सामाजिक जीवन को जिस नए रूप में संगठित करने का उद्योग किया उसके सर्वप्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ देश-वाहक सूरदास ही हैं। निःसंदेह वे हमारी भाषा के अप्रतिम कवि हैं।

बाल कृष्ण

सोभा-सिंधु न अंत रही री।
नंद-भवन भरि पूरि उमँगि चलि, ब्रज की बीथिनि फिरति बही री ॥
देखी जाइ आजु गोकुल मैं, घर-घर बेंचति फिरति दही री।
कहँ लगि कहौं बनाइ बहुत बिधि, कहत न मुख सहसहुँ निबही री ॥
जसुमति-उदर अगाध-उदधि तैं, उपजी ऐसी सबनि कही री।
सूरस्याम प्रभु इंद्र-नीलमनि, ब्रज-बनिता उर लाइ गही री ॥

हौं बलि जाऊँ छबीले लाल की ॥

धूसरि धूरि घुटुरुवनि रेंगनि, बोलनि बचन रसाल की ॥
छिटकि रहीं चहुँ दिसि जु लटुरियाँ, लटकन-लटकनि भाल की।
मोतिनि सहित नासिका नथुनी, कंठ-कमल-दल माल की ॥
कछुक हाथ, कछु मुख माखन लै, चितवनि नैन बिसाल की।
सूरदास प्रभु-प्रेम-मगन भई, ढिग न तजनि ब्रजबाल की ॥

हरि जू की बाल-छबि कहौं बरनि।
सकल सुख की सींव, कोटि मनोज सोभा-हरनि ॥
भुज भुजग, सरोज नैननि, बदन बिधु जित लरनि।
रहे बिवरनि, सलिल, नभ, उपमा अपर दुरि डरनि ॥
मंजु मेचक मृदुल तनु, अनुहरत भूषन भरनि।
मनहुँ सुभग सिंगार-सिसु-तरु, फर्‌यौ अद्‌भुत फरनि ॥
चलत-पद-प्रतिबिंब मनि आँगन घुटुरुवनि करनि।
जलज-संपुट-सुभग-छबि भरि लेति उर जनु धरनि ॥
पुन्य फल अनुभवति सुतहिं बिलोकि कै नँद-घरनि।
सूर प्रभु की उर बसी किलकनि ललित लरखरनि ॥

सखा कहत हैं स्याम खिसाने।
आपुहिं आपु बलकि भए ठाढ़े, अब तुम कहा रिसाने॥
बीचहिं बोलि उठे हलधर तब, याके माइ न बाप।
हारि जीत कछु नैंकु न समुझत, लरिकनि लावत पाप॥
आपुन हारि सखनि सौं झगरत, यह कहि दियौ पठाइ।
सूर स्याम उठि चले रोइ कै, जननी पूछति धाइ॥

आजु सखी मनि-खंभ-निकट हरि, जहँ गोरस कौं गोरी।
निज प्रतिबिंब सिखावत ज्यौं सिसु, प्रगट करै जनि चोरी॥
अरध बिभाग आजु तैं हम-तुम, भली बनी है जोरी।
माखन खाहु, कतहिं डारत हौ, छाँड़ि देहु मति भोरी॥
बाँट न लेहु, सबै चाहत हौ, यहै बात है थोरी।
मीठौ अधिक, परम रुचि लागै, तौ भरि देउँ कमोरी॥
प्रेम उमँगि धीरज न रह्यौ, तब प्रगट हँसी मुख मोरी।
सूरदास प्रभु सकुचि निरखि मुख, भजे कुंज की खोरी॥

चोरी करत कान्ह धरि पाए।
निसि बासर मोहिं बहुत सतायौ, अब हरि हाथहिं आए॥
माखन-दधि मेरौ सब खायौ, बहुत अचगरी कीन्ही।
अब तौ घात परे हौ लालन, तुम्हें भलैं मैं चीन्ही॥
दोउ भुज पकरि, कह्यो कहँ जैहौ, माखन लेउँ मँगाइ।
तेरी सौं मैं नेकु न खायौ, सखा गए सब खाइ॥
मुख तन चितै, बिहँसि हरि दीन्हौ, रिस तब गई बुझाइ।
लियौ स्याम उर लाइ ग्वालिनी, सूरदास बलि जाइ॥

मुरली

अधर-रस मुरली लूटन लागी।
जा रस कौं षट रितु तप कीन्हौ, सो रस पियति सभागी॥

कहाँ रही, कहँ तें इँह आइ, कौनें याहि बुलाई।
चकित भई, कहति व्रजवासिनि, यह तो भली न आई॥
सावधान क्यों होति नहीं तुम, उपजी बुरी बलाइ।
सूरदास-प्रभु हम पर ताकों, कीन्हो सौति बजाइ॥

सुनहु सखी याके कुल-धर्म।
तैसोइ पिता, मातु तैसी, अब देखो याके कर्म॥
वे बरषत धरनी संपूरन, सर सरिता अवगाह।
चातक सदा निरास रहत है, एक बूँद की चाह॥
धरनी जनम देति सबही कों, आपुन सदा कुमारी।
उपजत फिरि ताही मैं बिनसत, छोह न कहुँ महतारी॥
ता कुल मैं यह कन्या उपजी, याके गुननि सुनाऊँ।
सूर सुनत सुख होइ तुम्हारैं, मैं कहिकै सुख पाऊँ॥

मातु पिता गुन कह्यौ बुझाई।
अब याहू के गुन सुनि लेहु न, जातैं स्रवन सिराई॥
उनके वे गुन, निठुर कहावत, मुरली के गुन देखौ।
तब याकौ तुम औगुन मानौ, जब कछु अचरज पेखौ॥
जा कुल मैं उपजी, ता कुल कौं, जारि करति है छार।
तनहीं तन मैं अगिनि प्रकासति, ऐसी याकी झार॥
यह जो स्याम सुनैं स्रवननि भरि, करतैं देहैं डारि।
सूरदास प्रभु धोखैं याकौं, राखत अधरनि धारि॥

अधर रस मुरली लूट करावति।
आपुन बार-बार लै अँचवति, जहाँ-तहाँ ढरकावति॥
आजु महा चढ़ि बाजी वाकी, जोइ जोइ करै बिराजै।
कर सिंहासन बैठि, अधर-सिर छत्र धरे वह गाजै॥
गनति नहीं अपनैं बल काहुहिं, स्यामहि ढीठि कराई।
सुनहु सूर बन की बनबासिनि, व्रज मैं भई रजाई॥

नटवर-वेष धरे ब्रज आवत।
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल, कुटिल अलक मुख पर छवि पावत॥
भृकुटी विकट नैन अति चंचल, इहिं छवि पर उपमा इक धावत।
धनुष देखि खंजन बिबि डरपत, उड़ि न सकत उड़िबे अकुलावत॥
अधर अनूप मुरलि-सुर पूरत, गौरी राग अलापि बजावत।
सुरभी वृंद गोप-बालक-संग, गावत अति आनंद बढ़ावत॥
कनक-मेखला कटि पीतांबर, निर्तत मंद-मंद सुर गावत।
सूरस्याम प्रति-अंग-माधुरी, निरखत ब्रज-जन के मन भावत॥

देखि री देखि मोहन ओर।
स्याम-सुभग-सरोज-आनन, चारु, चित के चोर॥
नील तनु मनु जलद की छवि, मुरलि सुर घन-घोर।
दसन दामिनि लसति बसननि, चितवनी झकझोर॥
स्रवन कुंडल गंड-मंडल, उदित ज्यौं रवि भोर।
बरहि-मुकुट, बिसाल माला, इन्द्र-धनु-छवि-थोर॥
धातु चित्रित वेष-नटवर, मुदित नवल किसोर।
सूर स्याम सुभाइ आतुर, चितै लोचन-कोर॥

विरह

सराहौं तेरौ नंद हियौ।
मोहन सौं सुत छाँड़ि मधुपुरी, गोकुल आनि जियौ॥
कहा कह्यौ मेरे लाल लई तैं, जब तू बिदा कियौ।
जीवन-प्रान हमारे ब्रज कौ, वसुधौ छीनि लियौ॥
कह्यौ पुकार पारि पचि हारी, बरजत गवन कियौ।
सूरदास-प्रभु स्याम लाल धन, लै पर हाथ दियौ॥

प्रीति करि दीन्ही गरैं छुरी।
जैसैं बधिक चुगाइ कपट-कन, पाछैं करत बुरी॥

मुरली मधुर चेप काँपा करि, मोर चन्द्र फंदवारि।
चक विलोकनि लगी, लोभ-वस, सकी न पख पसारि॥
तरफत छाँड़ि गए मधुवन कौं, बहुरि न कीन्ही सार।
सूरदास-प्रभु सग कल्पतरु, उलटि न बैठी डार॥

देखियति कालिंदी अति कारी।
अहो पथिक कहियौ उन हरि सौं, भई विरह जुर जारी॥
गिरि प्रजंक तैं गिरति धरनि धँसि, तरँग तरफ तन भारी।
तट बारू उपचार चूर, जल पूर प्रस्वेद पनारी॥
बिगलित कच कुस काँस कूल पर, पंक जु काजल सारी।
भौंर भ्रमत अति फिरति भ्रमित गति, दिसि-दिसि दीन दुखारी॥
निसि दिन चकई पिय जु रटति है, भई मनौ अनुहारी।
सूरदास-प्रभु जो यमुना गति, सो गति भई हमारी॥

सुनियत मुरली देखि लजात।
दूरिहि तैं सिंहासन बैठे, सीस नाइ मुसकात॥
मोर-पच्छ कौ व्यजन विलोकत, बहरावत कहि बात।
जौ कहुँ सुनत हमारी चरचा, चालत हीं चपि जात॥
सुरभी लिखत चित्र की रेखा, सोचे हूँ सकुचात।
सूरदास जो ब्रजहिं बिसार्यौ, दूध दही कत खात॥

उमँगि व्रज देखन कौं सब धाए।
एकहि एक परस्पर बूझतिं, मोहन दूलह आए॥
सोई ध्वजा पताका सोई, जा रथ चढ़ि जु सिधाए।
श्रुति कुंडल अरु पीत वसन छवि, वैसोई साज बनाए॥
आइ निकट पहिचाने ऊधौ, नैन जलज जल छाए।
सूरदास मिटी दरसन आसा, नूतन बिरह जनाए॥

कह्यौ कान्ह सुनि जसुदा मैया।
आवहिंगे दिन चारि पाँच मैं, हम हलधर दोउ भैया॥

इनकें कहे कौन डहकावै, ऐसो कौन अनारी।
अपनौ दूध छाँड़ि को पीवै, खारे कूप कौ वारी॥
ऊधौ जाहु सवारैं ह्याँ तैं, वेगि गहरु जनि लावहु।
मुख माँगौ पैहौ सूरज-प्रभु, साहुहिं आनि दिखावहु॥

ऊधौ मोहिं व्रज बिसरत नाहीं।
हंस-सुता की सुंदर कगरी, अरु कुंजनि की छाँहीं॥
वै सुरभी, वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल-बाल मिलि करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाँहीं॥
यह मथुरा कंचन की नगरी, मनि-मुक्ताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की, जिय उमगत तन नाहीं॥
अनगन भाँति करी बहु लीला, जसुदा नंद निबाहीं।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि-कहि पछिताहीं॥

कुरुक्षेत्र-मिलन

राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव, माधव राधा, कीट भृंग गति ह्वै जु गई॥
माधव राधा के रँग राँचे, राधा माधव रंग रई।
माधव राधा प्रीति निरंतर, रसना करि सो कहि न गई॥
बिहँसि कह्यौ हम तुम नहिं अंतर, यह कहिकैं उन ब्रज पठई।
सूरदास प्रभु राधा माधव, ब्रज-बिहार नित नई-नई॥

ब्रजबासिनि सौं कह्यौ सबनि तैं ब्रज-हित मेरैं।
तुमसौं नाहीं दूरि रहत हौं निपटहिं नेरैं॥
भजै मोहिं जो कोइ, भजौं मैं तेहि वा भाइ।
मुकुर माँहि ज्यौं रूप, आपनैं सम दरसाइ॥
यहि कहि कै समझे सकल, नैन रहे जल छाइ
सूर स्याम कौ प्रेम कछु, मो पै कह्यौ न जाइ॥

विनय

माधौ जू यह मेरी इक गाइ।
अब आज तैं आप-आगैं दई, लै आइयै चराइ ॥
यह अति हरहाई, हटकत हूँ बहुत अमारग जाति।
फिरति वेद-बन-ऊख उखारति, सब दिन अरु सब राति ॥
हित करि मिलै लेहु गोकुलपति, अपने गोधन माहँ।
सुख सोऊँ सुनि बचन तुम्हारे, देहु कृपा करि बाहँ ॥
निधरक रहौं सूर के स्वामी, जनि मन जानौ फेरि।
मन-ममता रुचि सौं रखवारी, पहिलैं लेहु निबेरि ॥

अब कैं नाथ, मोहिं उधारि।
मगन हौं भव अंबुनिधि मैं, कृपासिंधु मुरारि ॥
नीर अति गंभीर माया, लोभ लहरि तरंग।
लिए जात अगाध जल कौं गहे ग्राह अनंग ॥
मीन इंद्री तनहिं काटत, मोट अघ सिर भार।
पग न इत उत धरन पावत, उरझि मोह सिवार ॥
क्रोध-दम्भ-गुमान-तृष्ना पवन अति झकझोर।
नाहिं चितवन देत सुत-तिय, नाम-नौका ओर ॥
थक्यौ बीच बिहाल, बिह्वल, सुनौ करुना-मूल।
स्याम, भुज गहि काढ़ि लीजै, सूर ब्रज कैं कूल ॥

प्रश्न

(१) सूरदास द्वारा चित्रित भक्ति के विविध भावों को स्पष्ट करते हुए उनकी भक्ति-भावना का स्वरूप समझाइए।

(२) 'सूर को मानव-प्रकृति का जैसा सूक्ष्म ज्ञान था वैसी ही उनमें यथातथ्य चित्रण करने की प्रतिभा थी' इस कथन को प्रमाणित कीजिए।

(३) स्वपठित रचनाओं के आधार पर सूरदास के भक्ति-वैचित्र्य और अलंकार-प्रयोग की सराहना कीजिए।

(४) भक्त और कवि के रूप में सूरदास के महत्त्व और प्रभाव का निरूपण कीजिए।

मुरली बेंत विषान हमारो, कहूँ अबेर सबेरो।
मति लै जाइ चुराइ राधिका, कछुक खिलौना मेरो॥
जा दिन तें हम तुम सों बिछुरे, काहु न कह्यौ कन्हैया।
प्रात न कियो कलेऊ कबहूँ, साँझ न पय पियौ धैया॥
कहा कहौं कछु कहत न आवै, जननी जो दुख पायौ।
अब हमसौं बसुदेव देवकी, कहत आपनो जायौ॥
कहिऐ कहा नंद बाबा सों, बहुत निठुर मन कीन्हौ।
सूर हमहिं पहुँचाइ मधुपुरी, बहुरि न सोधौ लीन्हौ॥

ब्रज घर-घर सब होति बधाइ।
कंचन कलस दूब दधि रोचन लै वृंदावन आइ॥
मिलि ब्रजनारि तिलक सिर कीनो, करि प्रदच्छिना तास।
पूछत कुसल नारि-नर हरषत, आए सब ब्रज-वास॥
सकसकात तन, धकधकात उर, अकबकात सब ठाढ़े।
सूर उपँग सुत बोलत नाहीं, अति हिरदै ह्वै गाढ़े॥

मधुकर हम न होहिं वै बेलि।
जिन भजि तजि तुम फिरत और रँग, करत कुसुम-रस केलि॥
बारे तें बर बारि बढ़ी हैं, अरु पोषी पिय पानि।
बिनु पिय परस प्रात उठि फूलत, होति सदा हित हानि॥
ये बेली बिरहीं बृन्दावन, उरझीं स्याम तमाल।
प्रेम-पुहुप-रस-बास हमारे, बिलसत मधुप गोपाल॥
जोग समीर धीर नहि डोलति, रूप डार दृढ़ लागीं।
सूर पराग न तजति हिए तें, श्री गुपाल अनुरागीं॥

ऊधौ हम आजु भईं बड़ भागी।
जिन अँखियनि तुम स्याम बिलोके, ते अँखियाँ हम लागी॥
जैसें सुमन बास लै आवत, पवन मधुप अनुरागी।
अति आनन्द होत है तैसें, अंग-अंग सुख रागी॥

ज्यौं दरपन मैं दरस देखियत, दृष्टि परम रुचि लागी।
तैसैं सूर मिले हरि हमकौं, बिरह-बिथा तन-त्यागी॥

मधुकर हम अजान मति भोरी।
यह मत जाइ तहाँ उपदेसौ, नागरि नवल किसोरी॥
कंचन को मृग कौनैं देख्यौ, किन बाँध्यौ गहि डोरी।
कहि धौं मधुप बारि तैं माखन, कौनैं भरी कमोरी॥
बिनुहीं भीत चित्र किन कीन्हौ, किन नभ घाल्यौ झोरी।
कहौ कौन पै कढ़त कनूका, जिन हठि भुसी पछोरी॥
निरगुन ज्ञान तुम्हारौ ऊधौ, हम अबला मति थोरी।
चाहतिं सूर स्याम मुख चंदहिं, अँखियाँ तृषित चकोरी॥

अँखियाँ हरि दरसन की भूखीं।
कैसैं रहति रूप-रस राँची, ये बतियाँ सुनि रूखीं॥
अवधि गनत, इकटक मग जोवत, तब इतनौ नहि झूखीं।
अब यह जोग सँदेसौ सुनि-सुनि, अति अकुलानी दूखीं॥
बारक वह मुख आनि दिखावहु, दुहि पय पिवत पतूखी।
सूर सुकत हठि नाव चलावत, ये सरिता हैं सूखी॥

मधुवन लोगनि को पतियाइ।
मुख औरै अंतरगति औरै, पतियाँ लिखि पठवत जु बनाइ॥
ज्यौं कोइल-सुत काग जियावै, भाव भगति भोजन जु खवाइ।
कुहुकि कुहुकि आएँ बसंत रितु, अंत मिले अपने कुल जाइ॥
ज्यौं मधुकर अंबुज-रस चाख्यौ, बहुरि न बूझै बातैं आइ।
सूर जहाँ लगि स्याम गात हैं, तिनसौं कीजै कहा सगाइ॥

आयौ घोष बड़ौ ब्यौपारी।
लेप लादि गुरु ज्ञान जोग की, ब्रज मैं आनि उतारी॥
फाटक दै कै हाटक माँगत, भोरौ निपट सुधारी।
धुरही तैं खोटौ खायौ है, लिये फिरत सिर भारी॥

तुलसीदास

(सन् १५३२-१६२३ ई०)

तुलसीदास का जन्म सम्भवतः राजापुर, जिला बाँदा के एक निर्धन ब्राह्मण-कुल में हुआ था। बाल्यावस्था में ही वे अनाथ हो गए और उदर-

पोषण के लिए उन्हें दर-दर भटकना पड़ा। कदाचित् किसी हनुमान-मन्दिर में उन्हें प्रारम्भिक जीवन के कुछ दिन बिताने पड़े। राम के नाम और गुण का कीर्तन करना ही उनका एकमात्र जीवन-व्यापार था। राम की कृपा से उन्हें एक योग्य गुरु मिल गए जो एक राम-भक्त वैष्णव थे। इन्हीं से तुलसीदास ने राम-कथा की परम्परा और उसके रहस्य का ज्ञान प्राप्त किया तथा कई वर्ष तक शास्त्र-पुराण और श्रेष्ठ काव्यों का अध्ययन किया। उनके ये गुरु सूकरखेत में रहते थे। कुछ विद्वान् एटा जिले के प्रसिद्ध तीर्थ सोरों को सूकरखेत मानते हैं और वहीं तुलसीदास का जन्म-स्थान भी बताते हैं।

जनश्रुति है कि तुलसीदास का विवाह हुआ था और स्त्री में उनकी इतनी अधिक आसक्ति थी कि उसी के व्यंग्य वचन से आहत होकर, कहते हैं, कि वे विरक्त हुए थे। जिन स्थानों से तुलसीदास को विशेष अनुराग था, वे हैं—अयोध्या, चित्रकूट और काशी। राम की जन्म-भूमि अयोध्या में उन्होंने

रामचरितमानस लिखना प्रारम्भ किया था। राम का वन-प्रवास चित्रकूट राजापुर के निकट है, अतः वे वहाँ प्रायः जाते होंगे तथा काशी में उन्होंने अपने अनेक वर्ष—अधिकतर अन्तिम वर्ष व्यतीत किए थे और वहीं असी घाट पर संवत् १६८० अर्थात् सन् १६२३ ई० में संभवतः महामारी या बरतोड के कष्ट में उनका देहान्त हुआ।

यह तो पूर्णतया निश्चित नहीं है कि तुलसीदास के गुरु रामानन्दी वैष्णव थे, पर इसमें संदेह नहीं कि स्वामी रामानन्द द्वारा प्रचारित राम-भक्ति को तुलसीदास ने एक निश्चित रूप देकर अत्यंत समर्थ बनाया। उत्तर भारत में राम-भक्ति के प्रचार का सर्वाधिक श्रेय तुलसीदास को ही है। तुलसीदास की भक्ति स्मार्त वैष्णव भक्ति कही जाती है, जिसमें अन्य देवी-देवताओं की उपासना, धर्म-शास्त्र के विधि-निषेध तथा कर्मकांड को भी मान्यता दी जाती है

तुलसीदास अंततोगत्वा राम के ही अनन्य उपासक थे, उनके राम पर-ब्रह्म के सगुण रूप हैं, किंतु उनके साथ वे स्वामी और सेवक का संबंध स्थापित करने की आकांक्षा करते हैं। राम भक्ति के ही आधार पर वे समस्त धर्म-कर्म का निर्माण करने का प्रचार करते थे और उसी में वे अन्य देवी-देवताओं की उपासना तथा शास्त्र के विधि-निषेध सम्बन्धी नियमों का समाहार करते थे। शिव के उपासकों को राम-भक्त बनाने का उन्होंने वैसा ही चतुर उपाय किया जैसा वैष्णव पुराणों में किया गया है। शिव को उन्होंने राम का सबसे बड़ा भक्त तथा राम को शिव का उपासक चित्रित किया है। इसी कारण तुलसीदास समन्वयवादी कहे जाते हैं। प्रारम्भ में काशी के पंडितों ने उनका अवश्य विरोध किया, किंतु अंत में उनके पांडित्य, काव्य-कौशल, भक्तिभावना तथा उच्च चरित्र की धाक जम गई। गोस्वामी की उपाधि उनके लोकसम्मान की सूचक है। गोस्वामी जी भक्त ही नहीं समाज-सुधारक भी थे। किंतु इस सम्बन्ध में उनकी स्थिति कबीर से भिन्न थी। वे वर्णाश्रम धर्म के पुनरुद्धार के लिए बहुत चिंतित थे। राम के नर-चरित्र में उन्होंने जिन आदर्शों का चित्रण किया उनका उद्देश्य प्राचीन मर्यादाओं को पुनः प्रतिष्ठित करना ही था। रामचरितमानस में उन्होंने व्यक्ति, परिवार,

राजा, प्रजा और समाज सभी के लिए आदर्श उपस्थित किए हैं। तुलसी के राम केवल सुन्दरता ही नहीं, शील-सौजन्य और शक्ति-मत्ता के भी प्रतीक हैं।

रामचरितमानस में तुलसीदास ने जहां भक्ति-भावना, जीवन के आदर्श तथा दार्शनिक विचार प्रकट किए हैं, और इस प्रकार उसे पुराण का रूप दिया है, वहां उसमें उन्होंने काव्य के वे सभी गुण समन्वित किए हैं, जिनके आधार पर कोई कवि महाकवि कहला सकता है। कथा-विन्यास, चरित्र-चित्रण, भावाभिव्यक्ति, वर्णन-कुशलता, भाषा-शैली, अलंकार-विधान सभी दृष्टियों से 'मानस' एक श्रेष्ठ महाकाव्य है। इसकी रचना दोहा, चौपाई की वर्णनात्मक शैली में हुई है। 'विनयपत्रिका' तुलसी की दूसरी श्रेष्ठ रचना है, जिसमें गेय पदों की शैली में उन्होंने अपना दैन्य भाव प्रकट करके दास्य भक्ति का चरम आदर्श उपस्थित किया है। भाव-तन्मयता की दृष्टि से 'विनयपत्रिका' मानस से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें तुलसी का हृदय उमड़ कर बड़ी आत्मीयता के साथ हमारे सामने खुल जाता है। 'गीतावली' में गेय पदों की शैली में पुनः राम की कथा कही गई है। 'कृष्णगीतावली' भी गेय पदों में है और उसमें कृष्ण-कथा दी गई है। राम-कथा के विभिन्न प्रसंगों पर कदाचित् मुक्तक रूप में रचे गए कवित्त, सवैया और कुछ छप्पय 'कवितावली' नाम से संगृहीत हैं। 'हनुमान-बाहुक' भी कवित्तों में ही है। 'पार्वतीमंगल' और 'जानकीमंगल' में क्रमशः पार्वती और सीता के विवाहों का वर्णन है। 'दोहावली' में भक्ति, वैराग्य और नीति सम्बन्धी दोहे तथा 'बरवै रामायण' में राम-कथा सम्बन्धी बरवै हैं। 'रामाज्ञाप्रश्न', 'रामललानहछू' और 'वैराग्यसंदीपनी' अन्य छोटी-छोटी कृतियाँ हैं। इस प्रकार अपने समय तक हिन्दी और अपभ्रंश में प्रचलित सभी शैलियों और छंदों में तुलसीदास जी ने रचना की। उनकी कृतियों में अवधी के पूर्वी और पश्चिमी तथा साहित्यिक और ठेठ दोनों रूप मिलते हैं। किन्तु 'मानस' को छोड़ कर उनकी सभी बड़ी रचनाएं ब्रजभाषा में हैं।

रचनाओं की विविधता, दृष्टि की व्यापकता, आदर्श की उच्चता तथा काव्य की श्रेष्ठता सभी दृष्टियों से तुलसी हिंदी भाषा के सर्वमान्य, श्रेष्ठतम कवि हैं।

मानस-भूमिका

जो सुमिरत सिधि होइ, गननायक करिवर-बदन।
करौ अनुग्रह सोइ, बुद्धि-रासि सुभ गुन-सदन॥

मूक होइ बाचाल, पंगु चढ़ै गिरिवर गहन।
जासु कृपा सो दयाल, द्रवौ सकल कलिमल-दहन॥

नील सरोरुह-स्याम, तरुन अरुन-बारिज-नयन।
करौ सो मम उर धाम, सदा छीर-सागर-सयन॥

कुंद इंदु-सम देह, उमारमन करुना-अयन।
जाहि दीन पर नेह, करौ कृपा मर्दन-मयन॥

बंदौं गुर-पद-कंज, कृपा-सिन्धु नर-रूप हरि।
महा मोह-तम-पुंज, जासु बचन रविकर-निकर॥

बंदौं गुरपद-पदुम-परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥
अमिअ मूरि मय चूरनु चारू। समन सकल भव रुज परिवारू॥
सुकृत संभु तन बिमल बिभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥
जन-मन मंजु मुकुर मल हरनी। किएँ तिलकु गुन-गन बस-करनी॥
श्री गुरु पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥
दलन मोहतम सो सुप्रकासू। बड़े भाग उर आवै जासू॥
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष-दुख, भव-रजनी के॥
सूझहिं रामचरित-मनि-मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥

जथा सुअंजन अंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखहिं सैल बन, भूतल भूरि निधान॥

गुरु-पद-रज मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिअ, दृग-दोष विभंजन॥
तेहि करि विमल विवेक विलोचन। बरनौं रामचरित भव-मोचन॥
बंदौं प्रथम महीसुर चरना। मोह-जनित संसय सब हरना॥
सुजन-समाज सकल गुन-खानी। करौं प्रनाम सप्रेम, सुबानी॥
साधु सरिस सुभ चरित कपासू। निरस, बिसद, गुनमय फल जासू॥
जो सहि दुख, परछिद्र दुरावा। बंदनीय, जेहि जग जस पावा॥
मुद मंगलमय संत-समाजू। जो जग जंगम तीरथ-राजू॥
राम-भगति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म-विचार-प्रचारा॥
विधि-निषेध-मय कलिमल-हरनी। करम-कथा रविनंदिनि बरनी॥
हरि-हर-कथा बिराजति बेनी। सुनत सकल मुद-मंगल देनी॥
बटु बिस्वास अचल निज धरमा। तीरथ-राज समाज सुकरमा॥
सबहि सुलभ, सब दिन, सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा॥
अकथ अलौकिक तीरथ-राऊ। देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ॥

सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग।
लहहिं चारि फल अछत तनु, साधु-समाज-प्रयाग॥

मज्जन-फलु पेखिअ ततकाला। काक होहिं पिक, बकउ मराला॥
सुनि आचरजु करै जनि कोई। सत-संगति महिमा नहिं गोई॥
बालमीक, नारद, घटजोनी। निज निज मुखनि कही निज होनी॥
जलचर, थलचर, नभचर नाना। जे जड़-चेतन जीव जहाना॥
मति, कीरति, गति, भूति भलाई। जब, जेहि जतन, जहाँ जेहि पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥
बिनु सतसंग बिवेक न होई। राम-कृपा बिनु सुलभ न सोई।
सतसंगति मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि, सब साधन फूला।
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस-परस कुधातु सोहाई॥
बिधि-बस सुजन कुसंगति परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥
बिधि-हरि-हर, कबि-कोबिद बानी। कहत साधु-महिमा सकुचानी॥
सो मो सन कहि जात न कैसे। साक बनिक मनि-गुन-गन जैसे॥

बंदौं संत समान चित, हित-अनहित नहिं कोउ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि, सम सुगंध कर दोउ॥
संत सरल चित जगतहित, जानि सुभाउ सनेहु।
बाल-विनय सुनि, करि कृपा, राम-चरन रति देहु॥

❀ ❀ ❀ ❀

भाग छोट, अभिलाषु बड़, करौं एक बिस्वास।
पैहहिं सुख सुनि सुजन जन, खल करिहहिं उपहास॥

खल परिहास होइ हित मोरा। काक कहहिं कलकंठ कठोरा॥
हंसहि बक दादुर चातक ही। हँसहि मलिन खल बिमल बतकही॥
कबित रसिक न राम-पद नेहू। तिन्ह कहँ सुखद हास रस एहू॥
भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग, हँसे नहि खोरी॥
प्रभु-पद-प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हहि कथा सुनि लागिहि फीकी॥
हरिहर-पद रति, मति न कुतरकी। तिन्ह कहँ मधुर कथा रघुबर की॥
राम-भगति भूषित जिअ जानी। सुनहहिं सुजन सराहि सुबानी॥
कबि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला, सब बिद्या हीनू॥
आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना॥
भाव भेद, रस भेद अपारा। कबित दोष, गुन बिबिध प्रकारा॥
कबित बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥

भनिति मोरि सब गुन रहित, बिस्व बिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहि सुमति, जिन्हके बिमल बिबेक॥

एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान, श्रुति सारा॥
मंगल-भवन अमंगल-हारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥
भनिति बिचित्र सुकबि-कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥
बिधु-बदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥
सब गुन रहित, कुकबि-कृत बानी। राम-नाम-जस अंकित जानी॥
सादर कहहिं-सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुन-ग्राही॥

जदपि कवित-रस एकौ नाहीं। राम-प्रताप प्रगट येहि माहीं॥
सोइ भरोस मोरे मन आवा। केहि न सुसंग वड़प्पनु पावा॥
धूमौ तजै सहज करुआई। अगरु-प्रसंग सुगंध वसाई॥
भनिति भदेस वस्तु भलि वरनी। राम-कथा जग-मंगल-करनी॥

मंगल-करनि, कलिमल हरनि, तुलसी कथा रघुनाथ की।
गति क्रूर कविता-सरित की, ज्यों सरित पावन-पाथ की॥
प्रभु सुजस संगति भनिति भलि, होइहि सुजन-मन-भावनी।
भव-अग भूति-मसान की, सुमिरत सुहावनि, पावनी॥

प्रिय लागिहि अति सवहि मम, भनिति राम-जस-संग।
दारु विचारु कि करै कोउ, वंदिय मलय प्रसंग॥
स्याम सुरभि पय विसद अति, गुनद, करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय-राम-जस, गावहिं, सुनहिं सुजान॥

भरत-भक्ति

तव मुनि वोले भरत सन, सब संकोचु तजि तात।
कृपासिन्धु प्रिय बन्धु सन, कहहु हृदय कइ वात॥

सुनि मुनि वचन, राम रुख पाई। गुर-साहिब अनुकूल, अघाई॥
लखि अपने सिर सबु छरुभारू। कहि न सकहिं किछु, करहिं विचारू॥
पुलकि सरीर सभाँ भए ठाढ़े। नीरज-नयन नेह-जल वाढ़े॥
कहब मोर मुनिनाथ निवाहा। येहि ते अधिक कहौं मैं काहा॥
मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥
मो पर कृपा सनेहु विसेषी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥
सिसुपन ते परिहरेउँ न सगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥
मैं प्रभु-कृपा रीति जिय जोही। हारेहु खेल जितावहिं मोही॥

मैं सनेह-सकोच वस, सनमुख कहे न बयन।
दरसन तृपित न आजु लगि, पेम-पियासे नयन॥

मिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच, बीच जननी मिस पारा।
येहउ कहत मोहि आजु न सोभा। अपनी समुझि साधु-सुचि को भा॥
मातु मंदि, मइँ साधु-सुचाली। उर अस आनत, कोटि कुचाली॥
फरइ कि कोदव वालि सुसाली। मुकुता प्रसव कि संवुक काली॥
सपनेहुँ दोस कलेसु न काहू। मोर अभाग उदधि अवगाहू॥
विनु समझें निज अघ-परिपाकू। जारिउँ जायँ जननि कहि काकू॥
हृदयँ हेरि हारेउँ सव ओरों। एकहि भाँति भलेहि भल मोरों॥
गुर गोसाइँ, साहिव सिय रामू। लागत मोहि नीक परिनामू॥

साधु सभां, गुर-प्रभु निकट, कहउँ सुथल, सति भाउ।
प्रेम प्रपचु कि झूठ फुर, जानहि मुनि, रघुराउ॥

भूपति-मरनु प्रेम-पनु राखी। जननी-कुमति जगतु सवु साखी॥
देखि न जाहि विकल महतारीं। जरहिं दुसह जर पुर नर-नारी॥
महीं सकल अनरथ कर मूला। सो सुनि समुझि सहिउँ सव सूला॥
सुनि वन-गवनु कीन्ह रघुनाथा। करि मुनि वेप लखनु सिय साथा॥
विनु पनहिन्ह, पयादेहि पाएँ। संकरु सापि रहेउँ, येहि घाएँ॥
वहुरि निहारि निपाद सनेहू। कुलिस कठिन उर भएउ न वेहू॥
अव सवु आँखिन्ह देखेउँ आई। जिअत जीव जड़ सवइ सहाई॥
जिन्हहि निरखि मग साँपिनि वीछी। तजहि विपम विप, तामस तीछी॥

तेइ रघुनदनु, लखनु, सिय, अनहित लागे जाहि।
तासु तनय तजि दुसह दुख, दैउ सहावइ काहि॥

सुनि अति विकल भरत वर वानी। आरति, प्रीति, विनय, नय सानी॥
सोक मगन, सव सभा खभारू। मनहुँ कमल-वन परेउ तुपारू॥
कहि अनेक बिधि कथा पुरानी। भरत प्रवोध कीन्ह मुनि ज्ञानी॥
वोले उचित वचन रघुनंदू। दिनकर कुल केरव-वन चंदू॥
तात जायँ जिअँ करहु गलानी। ईस अधीन जीव-गति जानी॥
तीन काल, तिभुअन मत मोरें। पुन्यसिलोक तात तर तोरें॥

उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोक-परलोकु नसाई॥
दोष देहिं जननिहिं जड़ तेई। जिन्ह गुर-साधु-सभा नहिं सेई॥

मिटिहइ पाप प्रपंच सब, अखिल अमंगल भार।
लोक सुजसु, परलोक सुख, सुमिरत नाम तुम्हार॥

कहउँ सुभाउ सत्य, सिव साखी। भरत भूमि रह, राउरि राखी॥
तात कुतरक करहु जनि जाएँ। बैर-प्रेमु नहिं दुरइ दुराएँ॥
मुनिगन निकट बिहँग मृग जाहीं। बाधक-बधिक बिलोकि-पराहीं॥
हित अनहित पसु पच्छिउ जाना। मानुष-तनु, गुन-ग्यान-निधाना॥
तात तुम्हहि मइँ जानउँ नीकें। करउँ काह असमंजस जी कें॥
राखेउ रायँ सत्य, मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ पेम-पन लागी॥
तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार संकोचू॥
तापर गुर मोहि आयेसु दीन्हा। अवसि जो कहहु, चहउँ सोइ कीन्हा॥

❀　　❀　　❀　　❀

कीन्ह अनुग्रह अमित अति, सब बिधि सीतानाथ।
करि प्रनामु बोले भरतु, जोरि जलज जुग हाथ॥

कहउँ, कहावउँ का अब स्वामी। कृपा-अंबुनिधि, अंतरजामी॥
गुर प्रसन्न, साहिब अनुकूला। मिटी मलिन मन-कलपित सूला॥
अपडर डरेउँ, न सोच समूलें। रबिहि न दोसु, दिसि भूलें॥
मोर अभागु, मातु कुटिलाई। बिधि गति बिषम, काल कठिनाई॥
पाउ रोपि, सब मिलि मोहि घाला। प्रनतपाल पन आपन पाला॥
येह नइ रीति न राउर होई। लोकहुँ बेद बिदित, नहिं गोई॥
जगु अनभल, भल एकु गोसाईं। कहिअ होइ भल कासु भलाईं॥
देउ देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ॥'

जाइ निकट पहिचानि तरु, छाँह समनि सब सोच।
माँगत अभिमत पाव जगु, राउ-रंकु, भल-पोच॥

लखि सब बिधि गुर स्वामि सनेहू। मिटेउ छोभु, नहिं मन सन्देहू॥
अब करुनाकर कीजिअ सोई। जनहित प्रभुचित छोभु न होई॥
जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ, तासु मति पोची॥
सेवक हित साहिब सेवकाई। करइ सकल सुख-लोभ बिहाई॥
स्वारथु नाथ फिरें सबही का। किएँ रजाइ कोटि बिधि नीका॥
येह स्वारथ-परमारथ सारू। सकल सुकृत-फल, सुगति-सिंगारू॥
देव एक बिनती सुनि मोरी। उचित होइ तस करब बहोरी॥
तिलक-समाजु साजि सबु आना। करिअ सुफल प्रभु जौं मनु माना॥

सानुज पठइअ मोहि बन, कीजिअ सबहि सनाथ।
नतरु फेरिअहिं बन्धु दोउ, नाथ चलउँ मैं साथ॥

नतरु जाहि बन तीनिउँ भाई। बहुरिअ सीय-सहित रघुराई॥
जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई। करुनासागर कीजिय सोई॥
देवँ दीन्ह सबु मोहि अभारू। मोरें नीति न धरम-बिचारू॥
कहउँ बचन सब स्वारथ हेतू। रहत न आरत कें चित चेतू॥
उतरु देइ सुनि स्वामि रजाइ। सो सेवकु लखि लाज लजाई॥
अस मैं अवगुन-उदधि अगाधू। स्वामि-सनेह सराहत साधू॥
अब कृपाल मोहि सो मत भावा। सकुच स्वामि मन जाइ न पावा॥
प्रभु-पद-सपथ, कहउँ सति भाऊ। जग मंगल-हित एक उपाऊ॥

प्रभु प्रसन्न मन, सकुच तजि, जो जेहि आयेसु देव।
सो सिर धरि-धरि करिहि सबु, मिटिहि अनट अवरेव॥

बन-गमन

कीर के कागर ज्यों नृपचीर, बिभूषन उप्पम अंगनि पाई।
औध तजी मगबास के रूख ज्यों, पंथ के साथ ज्यों लोग-लोगाई॥
संग सुबंधु, पुनीत प्रिया, मनो धर्मु क्रिया धरि देह सुहाई।
राजिवलोचन रामु चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं॥

पुरतें निकसी रघुबीर-बधू, धरि धीर दए मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनीं जल की, पुट सूखि गए मधुराधर वै ॥
फिरि बूझति हैं, चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै ?
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै ॥

सीस जटा, उर-बाहु बिसाल, बिलोचन लाल, तिरीछी-सी भौंहैं।
तून सरासन-बान धरें तुलसी बन-मारग में सुठि सोहैं ॥
सादर बारहिं बार सुभायँ चितै तुम्ह त्यों हमरो मनु मोहैं।
पूँछति ग्रामबधू सिय सों, कहौ साँवरे-से सखि ! रावरे को हैं ॥

सुनि सुन्दर बैन सुधारस-साने सयानी हैं जानकी जानी भली।
तिरछे करि नैन, दै सैन, तिन्हैं समुझाइ कछू, मुसुकाइ चली ॥
तुलसी तेहि औसर सोहैं सबै अवलोकति लोचन लाहु अली।
अनुराग-तड़ाग में भानु-उदै बिगसीं मनो मंजुल कंज-कलीं ॥

आत्म-निवेदन

कबहुँक अंब अवसर पाइ।
मेरीऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाइ ॥
दीन, सब अंग हीन, छीन, मलीन, अघी अघाइ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ ॥
बूझिहैं 'सो है कौन', कहिबी नाम दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ ॥
जानकी जग जननि जनकी किये बचन सहाइ।
तरै तुलसीदास भव, तव नाथ गुन-गन' गाइ ॥

जानकी-जीवन की बलि जैहौं।
चित कहै राम-सीय-पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं ॥
उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख, प्रभुपद बिमुख न पैहौं।
मन समेत या तन के बासिन्ह, इहै सिखावन दैहौं ॥

श्रवननि और कथा नहि सुनिहौं रसना और न गैहौं।
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहिं, सीस ईस ही नैहौं॥
नातो-नेह नाथ सों करि, सब नातो-नेह बहैहौं।
यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं॥

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर, राम सरिस कोउ नाहीं॥
जो गति जोग-बिराग जतन करि, नहिं पावत मुनि ग्यानी।
सो गति देत गीध, सबरी कहुँ, प्रभु न बहुत जिय जानी॥
जो सपत्ति दससीस अरप करि, रावन सिव पहँ लीन्हीं।
सो सपदा बिभीषन कहँ अति सकुच-सहित हरि दीन्हीं॥
तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो।
तौ भजु राम, काम सब पूरन करैं कृपानिधि तेरो॥

प्रश्न

(१) मर्यादा भक्ति का क्या तात्पर्य है ? तुलसीदास की भक्ति के प्रधान भाव के साथ मर्यादा भक्ति का सामजस्य बताते हुए इस प्रश्न का उत्तर दीजिए।

(२) 'भरत का चरित्र प्रधान रूप से एक आदर्श भक्त का चरित्र है' इस कथन को प्रमाणित कीजिए।

(३) मानस-भूमिका के आधार पर तुलसी के काव्य-सिद्धात तथा राम-कथा सम्बन्धी आदर्श का निरूपण कीजिए।

(४) तुलसीदास की भाषा, शैली, अलकार-योजना तथा छद-विधान पर सक्षेप में अपने विचार प्रकट कीजिए।

नंददास

(१६ वीं शताब्दी ई० का उत्तरार्ध)

नंददास के जीवन-वृत्त की बहुत कम बातें प्रामाणिक रूप में ज्ञात हैं। कुछ स्थानीय जनश्रुतियों और संदिग्ध हस्तलिखित पोथियों के आधार पर कहा जाता है कि नंददास सोरों के निकट रामपुर गाँव के निवासी सनाढ्य ब्राह्मण थे और गोस्वामी तुलसीदास के छोटे भाई थे। द्वारका की यात्रा पर जाते हुए वे एक स्त्री पर आसक्त हो गए थे। कहते हैं उन्हें इस अनुचित और मिथ्या मोह से गोसाईं विट्ठलनाथ ने मुक्ति दिलाई और अपनी शरण में लिया। इस घटना में कम से कम इतना तो सत्य है ही कि नंददास को गोसाईं विट्ठलनाथ ने पुष्टिमार्ग में दीक्षित किया था। यह घटना निश्चित रूप से सन् १५३४ ई० के बाद की है, क्योंकि इसी वर्ष गोसाईं विट्ठलनाथ गुरु की गद्दी पर बैठे थे। उनके द्वारा प्रतिष्ठित अष्टछाप के आठ भक्त कवियों में नंददास अन्यतम थे। उनकी रचनाओं में अनुपम विविधता पाई जाती है। नंददास अष्टछाप के एकमात्र कवि हैं जिन्होंने पुष्टिमार्गीय भक्ति के सिद्धांत का विवेचन किया। 'सिद्धांतपंचाध्यायी' नामक उनकी छोटी सी कृति में तो कृष्ण-भक्ति का सिद्धांत-पक्ष मिलता ही है, उनके 'भँवरगीत' में भी विरह के मार्मिक चित्रण के साथ-साथ गोपियों द्वारा उद्धव को भक्ति-सिद्धांत समझाया गया है। 'मानमंजरी नाम-माला' में जहाँ एक ओर 'अमरकोश' की भाँति कुछ शब्दों के पर्याय दिए गए हैं, वहाँ साथ-साथ उसमें राधा के रूठने और मनाए जाने का काव्य-मय वर्णन भी है। 'अनेकार्थमंजरी' में अनेकार्थी शब्द दिए गए हैं। 'रसमंजरी' नायिका-भेद का ग्रंथ है। भाषा-साहित्य में यह इस विषय की पहली कृति है। 'विरहमंजरी' बारहमासा की शैली में रचित एक दूत-

काव्य है। 'रूपमंजरी' में रूपमंजरी नामक किसी राजकुमारी के कृष्ण-प्रेम की कथा है। अनुमान किया गया है कि 'रूपमंजरी' ही नंददास की वह 'परम-रसिक' मित्र थी जिसका उल्लेख, उन्होंने अपने कई ग्रंथों में किया है। 'दशम स्कंध, में श्रीमद्भागवत के केवल २९ अध्यायों का भावानुवाद दिया गया है। 'रास पंचाध्यायी' भी श्रीमद्भागवत पर आधारित है। किंतु इस कृति में कवित्व कहीं अधिक है तथा मौलिकता भी है। यह एक उत्कृष्ट कृति है। 'स्यामसगाई' एक छोटा-सा वर्णनात्मक काव्य है, जिसमें नददास ने राधा-कृष्ण-विवाह के निश्चित होने का वर्णन किया है। 'रुक्मिणीमंगल' पुनः भागवत पर आधारित है, किंतु कवि ने भागवत की कथा में काव्योपयुक्त परिवर्तन करके अपनी कवि-दृष्टि का परिचय दिया है। इनके अतिरिक्त नंददास के गेय पद 'पदावली' में संगृहीत हैं।

इस विवरण से स्पष्ट है कि नददास ने अनेक विषयों पर रचना की। किंतु उनकी अधिकाश कृतियाँ बहुत छोटी-छोटी हैं। सिद्धात पक्ष के अतिरिक्त उनकी रचनाओं में काव्य-पक्ष भी बहुत प्रमुख रूप में उभरा है और इस दृष्टि से नंददास ने भक्ति-काव्य की उन समस्त साहित्यिक सभावनाओं को व्यक्त किया है, जिनका रीति-काल में विकास हुआ। नंददास ने वर्णनात्मक शैली में कई प्रबन्ध काव्य रच कर कृष्ण-काव्य मे एक नई पद्धति को जन्म दिया। सस्कृत से अनुवाद करने की प्रवृत्ति भी नददास में ही सबसे पहले मिलती है। नददास के छद-प्रयोग की भी आलोचकों ने सराहना की है, यद्यपि इस विषय में वे सूरसागर और रामचरितमानस से प्रभावित हुए हैं। उनकी रचनाओं मे पदावली के विविध छंदों को छोडकर चौपाई-दोहा, रोला-दोहा तथा उसके अत में मात्राओं की एक पक्ति का एक मिश्रित छद, तथा, केवल दोहा या केवल रोला छद का प्रयोग हुआ है। रोला तथा रोला-दोहा के मिश्रित छद के प्रयोग मे उन्होंने बहुत आकर्षण पैदा किया है। नंद-दास के काव्य की एक बहुत बडी विशेषता उनकी ब्रजभाषा की प्राजलता, श्रुति-मधुरता और प्रभावशीलता है। शब्दों का प्रयोग वे बड़ी सतर्कता से करते हैं, इसीलिए कहा गया है कि 'और कवि गढ़िया नददास जड़िया।'

रास-रस

ताही छिन उडुराज' उदित, रस रास सहाइक।
कुंकुम-मंडित प्रिया-बदन, जनु नागर नाइक॥

कोमल किरन-अरुनिमा, बन में ब्यापि रही यों।
मनसिज, खेल्यौ फाग, घुमड़ि घुरि रह्यौ गुलाल ज्यों॥

फटिक-छटा सी किरन, कुंज-रंध्रनि जब आई।
मानहुँ बितन बितान, सुदेस तनाव तनाई॥

मंद मंद चलि चारु चंद्रमा, अस छवि पाई।
उभकत है जनु रमारमन पिय-कौतुक आई॥

तब लीनी कर-कमल, जोगमाया-सी मुरली।
अघटित घटना चतुर, बहुरि अधरासव जुरली॥'

जाकी धुनि तें निगम अगम, प्रगटे बड़ नागर।
नाद-ब्रह्म की जननि, मोहिनी, सब सुख-सागर॥

पुनि मोहन सौं मिली, कछुक कल गान कियौ अस।
वाम-बिलोचन बाल तियन, मनहरन होइ जस॥

मोहन मुरली-नाद, श्रवन जु सुन्यौ सब किन ही।
जथा जथा बिधि रूप, तथा बिधि परस्यौ तिन ही॥

तरनि-किरन ज्यौं मनि, पखान, सबहिन कौं परसै।
सुरजकांति-मनि बिना, नहीं कहुँ पावक दरसै॥

सुनत चली ब्रज-बधू, गीत-धुनि कौ मारग गहि।
भवन-भीति, द्रुम-कुंज-पुंज कितहूँ अटकी नहि॥

नाद-अमृत कौ पंथ, रँगीलौ, सूच्छम भारी।
तिहि मग ब्रज-तिय चलीं, आन कोउ नहिं अधिकारी॥

सुद्ध प्रेममय रूप, पंचभौतिक तैं न्यारी।
तिनहिं कहा कोउ गहै, जोति सी जग उजियारी॥

❀ ❀ ❀ ❀

ये हरि-रस-ओपी गोपी, सब तियन तैं न्यारी।
कमल नयन गोविंदचन्द की प्रानपियारी॥

तिन के नूपुर-नाद, सुने जब परम सुहाये।
तब हरि के मन-नैन सिमिटि सब श्रवननि आये॥

रुनुक झुनुक पुनि छबिली भाँति, सब प्रगट भईं जब।
पिय के अँग-अँग सिमिटि, मिले छबिले नैननि तब॥

कुंजन कुजन निकसत, सोभित बर आनन अस।
तम कौने तैं निकरि, लसत राका-मयंक जस॥

सब के मुख अवलोकत, पिय के नैन बनें यौं।
बहुत सरद ससि-माँझ, अरबरे द्वै चकोर ज्यौं॥

अति आदर करि लईं, भईं चहुँ दिसि ठाढ़ी अनु।
छबिलौ छटमि मिलि छेकी, मंजुल घन-मूरति जनु॥

नागर वर नँद-नंद-चद, हँसि मंद-मंद तब।
बोले बाँके बैन, प्रेम के परम ऐन सब॥

उज्वल रस कौ यह सुभाउ, बकहिं छबि पावै।
बंक कहनि, अरु चहनि बक, अति रसहि बढ़ावै॥

ये सब नवल किसोरी, गोरी, भरी प्रेम-रस।
तातैं समुझि न परी, करी पिय परम प्रेम-बस॥

ज्यौं नाइक सब गुननिधि, अरु सुंदर जु महा है।
सब गुन माटी होइ, नैंक जौ वक्र न चाहै॥
केउक वचन कहे नरम, कहे केऊ रस बर कर।
केउक कहे त्रिय-धरम, मरम-भेदक सुंदर वर॥

लाल रसाल के व्यंग वचन सुनि थकित भई यों॥
बाल-मृगिनि की पाँति, सघन वन भूलि परी ज्यों॥
मंद परस्पर हँसीं, लसीं तिरछी अँखियन अस।
रूप-उदधि इतराति, रँगीली मीन-पाँति जस॥
जब पिय कह्यौ घर जाहु, अधिक चित चिंता बाढ़ी।
पुतरनि की सी पाँति, रहि गई इक-टक ठाढ़ी॥
दुख के बोझ, छबि-सींव ग्रीव, नै चली नाल सी।
अलक-अलिन के भार, नमित मनु कमल-नाल सी॥
हिय भरि बिरह-हुतास, उसासनि-सँग आवत भर।
चले कछू मुरझाइ, मधु-भरे अधर-बिंब बर॥

तब बोली ब्रज-बाल, लाल मोहन अनुरागी।
सुन्दर गदगद गिरा, गिरिधरहिं मधुरी लागी॥
अहो मोहन! अहो प्राननाथ! सुंदर सुखदाइक।
क्रूर वचन जिनि कहौ, नहिन ये तुम्हरे लाइक॥
जब कोउ पूछै धर्म, तबहिं तासौं कहिये पिय।
बिन ही पूछे धर्म, कितहिं कहिये, दहिये हिय॥
धर्म, नेम, जप, तप, व्रत, सब कोउ फलहिं बतावै।
यह कहुँ नाहिन सुनी, जु फल फिरि धर्म सिखावै॥
अरु तुम्हरो यह रूप, धर्म के धर्महिं मोहै।
घर में को तिय-धर्म भर्म, या आगे को है॥

हँसिय पिय की मुरली, जुरली अधर-सुधारस।
सुनि निज धर्म न तजै, तरुनि त्रिभुवन में को अस॥

नगन कौ धर्म न रह्यौ, पुलकि-तन चले ठौर तैं।
खग, मृग, गो-बछ, मच्छ-कच्छ ते रहे कौर तैं॥

* * * *

कोटि कल्पतरु बसत-लसत पद-पकज-छाँहीं।
कामधेनु पुनि कोटि-कोटि बिलुठित रज माहीं॥

सो पिय भये अनुकूल, तूल कोउ नाहिं भयौ अब।
निरवधि सुख कौ मूल, सूल उनमूल किये सब॥

आरंभित अद्भुत सु रास, उहि कमल-चक्र पर।
नमित न कितहूँ होइ, सबै निर्तत बिचित्र वर॥

मनि-दर्पन-सम अवनि, रवनि तापर छबि देहीं।
बिलुलित कुंडल अलक, तिलक झुकि झाँई लेहीं॥

कमल-कर्निका-मध्य, राधिका लाल बनी छबि।
द्वै द्वै गोपिन बीच, जु मोहनलाल बने फबि॥

मूरति एक अनेक देखि, अद्भुत सोभा अस।
मंजु मुकर-मंडली मध्य, प्रतिबिंब चंद्र जस॥

सकल तियन के मध्य, साँवरौ पिय सोभित अस।
रत्नावलि-मधि नवल नीलमनि झलमलात जस॥

नव मरकत-मनि स्याम, कनक मनि-गन ब्रज-बाला।
वृंदावन कौ रीझि, मनहुँ पहिराई माला॥

नूपुर, कंकन, किंकिनि, करतल मंजुल मुरली।
ताल, मृदंग, उपंग, चंग एकहि सुर जुरली॥

मृदुल मुरज-टंकार, तार-झंकार मिलीं धुनि।
मधुर जंत्र की तार, भँवर गुंजार रली पुनि॥

तैसिय मृदु-पद-पटकनि, चटकनि कटतारनि की।
लटकनि, मटकनि, झलकनि, कल कुंडल हारनि की॥

साँवरे पिय-सँग निर्त्तत, चंचल ब्रज की बाला।
जनु घन-मंडल मंजुल, खेलति दामिनि-माला॥

छबिली तियन के पाछे, आछे बिलुलित बैनी।
चंचल रूप लतन-सँग, डोलत जनु अलि-सैनी॥

मोहन पिय की मल्हकनि, ढलकनि मोर मुकट की।
सदा बसौ मन मेरे, फहरनि पियरे पट की॥

*　　*　　*　　*

अद्‌भुत रस रह्यौ रास, गीत-धुनि सुनि मोहे मुनि।
सिला सलिल ह्वै चली, सलिल ह्वै गयो सिला पुनि॥

पवन थक्यौ, ससि थक्यौ, थक्यौ उड़-मंडल सगरौ।
पाछे रवि-रथ थक्यौ, चल्यौ नहिं आगे दगरौ॥

रीझि सरद की रजनी, न जनी केतिक बाढ़ी।
बिलसत सजनी स्याम, जथा रुचि अति रति गाढ़ी॥

इहि बिधि बिबिध बिलास बिलसि सुख कुंज सदन के।
चले जमुन-जल क्रीड़न, ब्रीड़न कोटि मदन के॥

*　　*　　*　　*

नित्य रास रमनीय, नित्य गोपीजन-वल्लभ।
नित्य निगम यौं कहत, नित्य नव तन अति दुर्लभ॥

यह अद्‌भुत रस रास, कहत कछु कहि नहि आवै।
सेस सहस मुख गावै, अजहूँ अंत न पावै॥

सिव मन ही मन ध्यावै, काहू नाहिं जनावै।
सनक सनदन, सारद, नारद अति ही भावै॥

जदपि पद-कमल कमला अमला, सेवति निसि दिन।
यह रस अपने सपने, कबहुँ नहिं पायौ तिन॥

अज अजहुँ रज बाछत, सुंदर बृंदाबन की।
सो तनकहु नहिं पावत, सूल मिटत नहि मन की॥

बिन अधिकारी भये, नहिंन बृंदावन सूझै।
रेनु कहाँ त सूझै, जब लगि वस्तु न बूझै॥

निपट निकट ज्यौं घट मैं अंतरजामी आही।
बिषय-बिदूषित इद्री पकरि सकै नहि ताही॥

जो यह लीला गावै, चित दै सुनै सुनावै।
प्रेम-भक्ति सो पावै, अरु सब के जिय भावै॥

* * * *

श्रवन-कीर्तन-सार, सार सुमिरन कौ है पुनि।
ग्यान-सार हरि-ध्यान-सार, श्रुति-सार गुथी गुनि॥

अघ-हरनी, मन-हरनी, सुंदर प्रेम-बितरनी।
'नंददास' के कठ बसौ, नित मंगल-करनी॥

प्रश्न

(१) 'कृष्ण-भक्त कवियों में नददास का अनूठा स्थान है', नददास को विशेषताएँ बतलाते हुए इस कथन की परीक्षा कीजिए।

(२) नददास की रचना के आधार पर श्रीकृष्ण के रास का तात्पर्य और महत्त्व समझाइए।

(३) नददास की भाषा-शैली की उदाहरण सहित सराहना कीजिए।

———

बिहारीलाल

(अनुमानतः सन् १६०३—१६६३ ई०)

अपने संबंध में बिहारीलाल ने केवल इतनी सूचना दी है कि उनका जन्म ग्वालियर में हुआ था तथा तरुणावस्था में वे अपनी ससुराल मथुरा में आ कर बस गए थे। ग्वालियर के पास बसुवा गोविंदपुर उनका जन्म-स्थान बताया जाता है। कदाचित् वे माथुर चौबे जाति के थे। प्रसिद्ध है कि वे जयपुर-नरेश मिर्जा राजा जयसाह के राज-कवि थे और उनके एक दोहे ने राजा को रंग-महल से निकाल कर कर्तव्य-पथ में आरूढ़ कर दिया था। एक अन्य जनश्रुति है कि जब मिर्जा राजा जयसाह औरंगजेब के द्वारा शिवाजी के विरुद्ध लड़ने को भेजे गए तब बिहारी ने एक सार-गर्भित दोहा कह कर उन्हें सचेत किया था। बिहारी की जीवन संबंधी इन थोड़ी सी बातों के अतिरिक्त और कुछ भी विवरण ज्ञात नहीं है।

बिहारी की रचना केवल एक 'सतसई' है। किंतु इन सात सौ दोहों को रच कर उन्होंने जो कीर्ति प्राप्त की, वह प्रचुर रचना करने वाले भी बहुत थोड़े कवियों को मिलती है। उनका एक-एक दोहा उनकी अनुपम सूझ-बूझ, कल्पना-शक्ति, शब्द-योजना एवं हार्दिक अनुभूति का प्रमाण है। सतसई की पचासों टीकाएँ हुईं, अनेक कवियों ने उसके दोहों के भाव लेकर,

छप्पय, कुंडलिया, सवैया आदि छंदों में पल्लवित किए तथा संस्कृत और उर्दू पद्यों में उसके अनुवाद हुए। इससे सिद्ध होता है कि काव्य-रसिकों के समाज में बिहारी-सतसई अत्यंत लोक-प्रिय रही है।

प्राकृत, संस्कृत और हिंदी में सतसई की एक लंबी परंपरा है जो प्राकृत की 'गाहा सत्तसई' (गाथा सप्तशती) से प्रारंभ होती है। संस्कृत में अनेक सप्तशतियाँ और शतक 'गाथा' के अनुकरण पर रचे गए, जिनमें कवियों ने कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भाव भरने तथा उक्ति को अधिक से अधिक चमत्कारपूर्ण अथवा मार्मिक बनाने में अपने काव्य-कौशल का प्रशंसनीय प्रदर्शन किया। परंतु बिहारी-सतसई के समान उक्ति-वैचित्र्य, वचन-लाघव, सरसता और प्रभावोत्पादकता न तो उससे पूर्व संस्कृत के मुक्तक काव्य में पाई जाती है और न परवर्ती हिंदी की सतसइयों में।

बिहारी रीति-काल के प्रमुख कवि हैं और यद्यपि बिहारी-सतसई लक्षण-ग्रंथ नहीं है, किंतु काव्य-पारखियों ने उसके एक-एक दोहे में एक से अधिक काव्यांगों के उदाहरण ढूँढ लिए हैं तथा यह सिद्ध किया है कि बिहारी ने अधिकतर दोहों की रचना नायिका-भेद और काव्यालंकार आदि के उदाहरण देने के लिए ही की थी। बिहारी प्रधान रूप से शृङ्गार रस के कवि हैं। दोहे के छोटे से आकार तथा विषय की संकुचित सीमा में भी रस की व्यंजना कर सकना बिहारी के ही लिए संभव था। शृंगार के अतिरिक्त बिहारी ने नीति विषयक दोहे भी रचे हैं, जिनमें उक्ति-वैचित्र्य के साथ-साथ जीवन के गंभीर अनुभव और उपदेश भी मिलते हैं। उनकी अन्योक्तियाँ बड़ी प्रभावोत्पादक हैं। सतसई के अनेक दोहे स्पष्ट रूप में भक्ति और वैराग्य विषयक भी हैं, जो शृंगारी कवि की धार्मिक प्रवृत्ति के परिचायक हैं।

बिहारी की शैली अत्यन्त अर्थ-गर्भित और व्यंजनापूर्ण है। शब्दों का प्रयोग वे बड़ी मितव्ययता और सतर्कता से करते हैं। उनकी व्रजभाषा में बुन्देली प्रयोग यत्र-तत्र अवश्य मिलते हैं, किन्तु अनेक दोहों में उनकी भाषा का माधुर्य अत्यन्त सराहनीय है। शब्दों की तोड़-मरोड़ उन्होंने अपेक्षाकृत बहुत कम की है और व्रजभाषा के साहित्यिक रूप को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है।

राधा-कृष्ण

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँई परैं, स्यामु हरित-दुति होइ॥

सघन कुंज-छाया सुखद, सीतल सुरभि-समीर।
मनु ह्वै जात अजौं वहै, उहि जमुना के तीर॥

सखि, सोहति गोपाल कैं उर गुंजनु की माल।
बाहिर लसति, मनौ पिये दावानल की ज्वाल॥

चिरजीवौ जोरी, जुरै क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि, ए वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥

नितप्रति एकत हीं रहत, बैस-बरन-मन-एक।
चहियत जुगलकिसोर लखि लोचन-जुगल अनेक॥

मोर-मुकट की चंद्रिकनु, यौं राजत नँदनंद।
मनु ससिसेखर की अकस, किय सेखर सत चंद॥

डिगत पानि, डिगुलात गिरि, लखि सब ब्रज बेहाल।
कंपि किसोरी दरसि कै, खरैं लजाने लाल॥

मिलि परछाँहीं जोन्ह सौं, रहे दुहुनु के गात।
हरि राधा इक संग हीं, चले गली महिं जात॥

सोहत ओढ़ैं पीतु पटु स्याम, सलौनैं गात।
मनौ नीलमनि-सैल पर आतपु पर्यौ प्रभात॥

अधर धरत हरि कैं, परत ओठ-डीठि-पट-जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी इंद्रधनुष रँग होति॥

रूप-सौंदर्य

चमचमात चंचल नयन बिच घूँघट पट झीन।
मानहु सुरसरिता-बिमल जल उछरत जुग मीन॥

पत्राहीं तिथि पाइयै, वा घर कैं चहुं पास।
नितप्रति पून्यौई रहै, आनन ओप उजास॥

मानहु बिधि तन-अच्छ छबि, स्वच्छ राखिबैं काज।
दृग-पग-पोंछन कौं करे, भूषन पायंदाज॥

हरि-छबि-जल जब तैं परे, तब तैं छिनु बिछुरैं न।
भरत ढरत, बूड़त तरत, रहत घरी लौं नैन॥

अंग-अंग-प्रतिबिंब परि, दरपन सैं सब गात।
दुहरे, तिहरे, चौहरे भूषन जाने जात॥

लिखन बैठि जाकी सबी, गहि-गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यौं-ज्यौं बूड़ै स्याम रँग, त्यौं-त्यौं उज्जलु होइ॥

तो पर वारौं उरवसी, सुनि, राधिके सुजान।
तू मोहन कैं उर बसी, ह्वै उरवसी-समान॥

प्रकृति

छकि रसाल-सौरभ, सने मधुर माधुरी-गंध।
ठौर ठौर झौंरत झँपत, भौंर-झौंर मधु-अंध॥

कहलाने एकत बसत, अहि मयूर, मृग बाघ।
जगतु तपोवनु सौ कियौ, दीरघ दाघ निदाघ॥

बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन-तन माँह।
देखि दुपहरी जेठ की, छाँहौं चाहति छाँह॥

पावस-घन-अँधियार महि, रह्यो भेदु नहिं आनु।
रात द्यौस जान्यौ परतु, लखि चकई चकवानु॥

धुरवा होहिं न, अलि, उठै धुवाँ धरनि-चहुँ कोदु।
जारत आवत जगत कौं, पावस-प्रथम पयोद॥

आवत जात न जानियतु, तेजहि तजि सियरानु।
घरहँ जँवाई लौं घट्यौ, खरौ पूस-दिन-मानु॥

रनित भृंग-घंटावली, झरित दान मधु-नीरु॥
मंद-मंद आवतु चल्यौ, कुंजरु कुंज-समीरु॥

चुवत स्वेद मकरंद-कन, तरु-तरु-तर बिरमाइ।
आवतु दच्छिन देस तैं, थक्यौ बटोही बाइ॥

नीति

जो चाहत, चटक न घटै, मैलौ होइ न, मित्त।
रज राजसु न छुवाइ तौ, नेह-चीकनौं चित्त॥

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीति बहार।
अब, अलि, रही गुलाब मैं अपत, कँटीली डार॥

इहीं आस अटक्यौ रहतु अलि गुलाब कैं मूल।
ह्वैहैं फेरि बसंत ऋतु इन डारनु वे फूल॥

को छुट्यौ इहिं जाल परि, कत, कुरंग, अकुलात।
ज्यौं-ज्यौं सुरझि भज्यौ चहत, त्यौं-त्यौं उरझत जात॥

स्वारथु, सुकृत न, श्रम वृथा; देखि, विहंग, विचारि।
बाज, पराऐं पानि परि, तू पच्छीनु न मारि॥

भक्ति

लटुवा लौं प्रभु-कर-गहैं, निगुनी गुन लपटाइ।
वहै गुनी-कर तैं छुटैं, निगुनीयै ह्वै जाइ॥

मैं समुझ्यौ निरधार, यह जग काँचो काँच सौ।
एकै रूपु अपार प्रतिबिंबित लखियतु जहाँ॥

यह बरिया नहि और की, तूँ करिया वह सोधि।
पाहन-नाव चढ़ाइ जिहि कीने पार पयोधि॥

दूरि भजत प्रभु पीठि दै, गुन-विस्तारन-काल।
प्रगटत निर्गुन निकट रहि, चंग-रंग भूपाल॥

थोरैं ही गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
तुमहूँ, कान्ह, मनौ भए आज कालिह के दानि॥

मोहूँ दीजै मोषु, ज्यौं अनेक अधमनु दियौ।
जौ बाँधैं ही तोषु, तौ बाँधौ अपनैं गुननु॥

प्रश्न

(१) किस प्रकार बिहारी रीति-काल का प्रतिनिधित्व करते हैं ? रीति-कालीन प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए उत्तर दीजिए।

(२) 'सतसैया के दोहरे' वाली गर्वोक्ति की सोदाहरण परीक्षा कीजिए तथा सतसई का साहित्यिक महत्त्व स्पष्ट कीजिए।

(३) बिहारी के स्वपठित दोहों में से अपने पाठ्यक्रम में निर्धारित किन्हीं पाँच अलंकारों के उदाहरण छाँट कर उनके लक्षण स्पष्ट कीजिए।

———

भूषण

(सन् १६१३—१७१५ ई०)

'शिवराज भूषण' म भूषण ने स्वय लिखा है कि वे यमुना-तटवर्ती त्रिविक्रमपुर के निवासी, कश्यप कुल के कान्यकुब्ज ब्राह्मण वशी रत्नाकर के पुत्र थे। चित्रकूट-पति हृदयराम के पुत्र रुद्र सोलकी ने उन्हें 'भूषण' की उपाधि दी थी। कदाचित् उनका असली नाम कुछ और था। चितामणि और मतिराम के साथ अपने भ्रातृत्व का उन्होने उल्लेख नही किया है। फिर भी इस जनश्रुति को सर्वथा अमान्य नही ठहराया जा सकता। भूषण छत्रपति महाराज शिवाजी की सभा के कवि थे। उनके 'शिवराजभूषण' में एक साथ ही महाराज शिवाजी का यशोगान तथा अलकारो के लक्षण-उदाहरण दिए गए हैं, 'शिवाबावनी' में पुन शिवाजी की वीरता सबधी बावन छद हैं तथा 'छत्रसाल दशक' के दस छदो में महाराज छत्रसाल बुदेला के यश का वर्णन है। 'भूषणउल्लास' और 'दूषणउल्लास' नामक दो ग्रथ उनके और बताए गए हैं।

परिमाण में भूषण की रचना बहुत थोडी है। उनकी सबसे बडो कृति 'शिवराजभूषण' है जिसमें ३८४ छद हैं। यह एक अलकार ग्रथ है। परतु भूषण ने उसके प्रारम्भ में कहा है कि काव्य-रचना की प्रेरणा उन्हें शिवाजी के प्रशसनीय चरित्र से प्राप्त हुई थी। यह युग के प्रभाव का परिणाम था कि रीति-काल के अन्य कवियो की भाँति उन्हें भी अपनी रचना को लक्षण-ग्रथ

का रूप देना पड़ा। अलकार ग्रंथ के रूप में 'शिवराजभूषण' का विशेष महत्त्व नहीं है, क्योकि अलकारो के विवेचन मे उसमे न मौलिकता है और न पूर्णता। लक्षण प्रायः अस्पष्ट हैं तथा उदाहरण भी कहीं-कहीं अस्पष्ट तथा अशुद्ध हैं। भूषण के काव्य का महत्त्व केवल इस कारण है कि उन्होंने शृङ्गार के रीति-कालीन वातावरण मे वीर रस की रचना की और पिटी-पिटाई लीक छोड़ कर नया मार्ग निकाला। ऐसा नही है कि रीति-काल में वीर रस की रचनाएँ न हुई हो; केशवदास से लेकर पद्माकर तक अनेक कवि शृङ्गार के साथ वीर रस की भी रचनाएँ करते रहे हैं और कुछ कवि प्रधान रूप से वीर रस के ही कवि हैं। किंतु इन समस्त कवियो का वीर रस ऐसे आश्रय-दाताओं की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशसा मे सीमित है जो पूर्णरूप से उसके अधिकारी नही माने जा सकते। भूषण ने भी शिवाजी की प्रशसा में अतिशयोक्ति की है, किंतु व्यक्तिगत युद्ध-वीरता, दान-वीरता और दया-वीरता का यशोगान करते हुए उन्होंने ऐसे सकेत किए हैं जिससे शिवाजी के ये गुण उन्हें जाति-नायक बना देते हैं। इस विषय में भूषण वीर-गाथा काल के चारण कवियो से भी आगे हैं। सपूर्ण मध्य युग में एकमात्र भूषण के काव्य में ही जातीयता का भाव ओजस्वी शैली में व्यक्त हुआ है। किंतु राष्ट्रीयता और देश-भक्ति के जिस भाव से हम आज परिचित हैं, वह आधुनिक काल की उपज है। मध्य युग के कवि के लिए किसी प्रकार की सामूहिक जाति-भावना को व्यक्त करना ही बहुत था। उस समय उत्तर भारत में कोई राजा ऐसा न था जिसका आश्रय लेकर भूषण यह भावना व्यक्त करते, अत. दक्षिण जा कर ही वे अपनी कल्पना को साकार कर सके। ओरछा नरेश छत्रसाल में उन्हें वास्तविक शौर्य के कुछ गुण अवश्य मिले थे। इसीलिए उनकी प्रशसा में भी उन्होंने दस छद रच दिए। भूषण में सकुचित-साम्प्रदायिक भावना नही थी। औरंगजेब के पूर्वजों के वे प्रशंसक थे तथा शिवाजी की धार्मिक उदारता की उन्होंने सराहना की है।

मध्य युग के साहित्य में भूषण अपने ढग के अकेले कवि हैं।

जै जयति, जै आदि सकति, जै कालि कपर्दिनि।
जै मधुकैटभ-छलनि देवि, जै महिष-विमर्दिनि॥
जै चमुंड, जै चंड-मुंड-भंडासुर-खंडिनि।
जै सुरक्त, जै रक्तबीज-बिड्डाल-बिहंडिनि॥

जै-जै निसुंभ-सुंभद्दलनि, भनि भूषन जै-जै भननि।
सरजा समत्थ सिवराज कहँ, देहि बिजै जै जगजननि॥

दौलति दिली की पाय कहाये अलमगीर,
बब्बर अकब्बर के बिरद बिसारे तैं।
भूषन भनत लरि-लरि सरजा सों जंग,
निपट अभंग गढ़ कोट सब हारे तैं॥
सुधर्‌यो न एकौ-काज, भेजि-भेजि वेही काज,
बड़े-बड़े बेइलाज उमराव मारे तैं।
मेरे कहे मेर करु, सिवा जी सों बैर करि,
गैर करि, नैर निज नाहक उजारे तैं॥

इंद्र निज हेरत फिरत गज-इंद्र, अरु
इंद्र को अनुज हेरै दुगध-नदीस को।
भूषन भनत सुरसरिता को हंस हेरै,
विधि हेरै हंस को, चकोर रजनीस को॥
साहितनै 'सरजा यों करनी करी है तैंने,
होत है अचंभो देव कोटियो तैंतीस को।
पावत न हेरे, तेरे जस में हिराने, निज
गिरि को गिरीश हेरैं, गिरिजा गिरीस को॥

जाहु जनि आगे, खता खाहु मति यारो,
गढ़-नाह के डरन कहैं, खान यों बखान कै।
भूषन खुमान यह सो है जेहि पूना माहि,
लाखन मैं सासता खाँ डाऱ्यो बिन मान कै॥
हिंदुवान-द्रुपदी की ईजति बचैबे काज,
झपटि बिराटपुर बाहर प्रमान कै॥
वहै है सिवाजी जेहि भीम ह्वै अकेले माऱ्यो,
अफजल-कीचक को कीच घमासान कै॥

आजु यहि समय महाराज सिवराज तुही,
जगदेव, जनक, जजाति अबरीक सौं।
भूषन भनत तेरे दान-जल-जलधि मैं,
गुनिन को दारिद गयो बहि खरीक सौं॥
चन्दकर किंजलक, चाँदनी पराग,
उड़-वृन्द मकरंद-बुंद-पुंज के सरीक सौं।
कंद सम कयलास नाकगंग नाल, तेरे
जस-पुंडरीक को अकास चंचरीक सौं॥

* * * *

बाने फहराने, घहराने घटा गजन के,
नाहीं ठहराने राव-राने देस-देस के।
नग भहराने, ग्राम-नगर पराने, सुनि
बाजत निसाने सिवराज जू नरेस के॥
हाथिन के हौदा उकसाने कुंभ कुंजर के,
भौन को भजाने अलि, छूटे लट केस के।
दल के दरारन तें कमठ करारे फूटे,
केरा के से पात बिहराने फन सेस के॥

दुग्ग पर दुग्ग जीते सरजा सिवाजी गाजी,
उग्ग नाचे उग्ग पर रुंड-मुंड फरके।
भूषन भनत बाजे जीति के नगारे भारे,
सारे करनाटी भूप सिंहल को सरके॥
मारे सुनि सुभट पनारेवारे उदभट,
तारे लागे फिरन सितारे-गढ़धर के।
बीजापुर बीरन के, गोलकुंडा-धीरन के,
दिल्ली उर मीरन के दाड़िम-से दरके॥

दारा की न दौरि यह रजुए की रारि नाहि,
बाँधिबो न होय या मुरादसाह-बाल को।
मठ विस्वनाथ को न बास ग्राम गोकुल को,
देवी को न देहरा, न मंदिर गोपाल को॥
गाढे गढ़ लीन्हें, केते बैरी कतलान कीन्हें,
जानत न भयो यहि साह-कुल-साल को।
बूड़ति है दिल्ली सो सँभारै क्यों न दिल्लीपति,
धक्का आनि लाग्यो सिवराज, महाकाल को॥

सबन के ऊपर ही ठाढ़ो रहिबे के जोग,
ताहि खरो कियो छ-हजारिन के नियरे।
जानि गैरमिसिल गुसीले गुसा धारि मन,
कीन्हो न सलाम, न बचन बोले सियरे॥
भूषन भनत महाबीर बलकन लाग्यो,
सारी पातसाही के उड़ाय गये जियरे।
तमक तें लाल मुख सिवा को निरखि, भए
स्याह मुख नौरंग सिपाह-मुख पियरे॥

चाकचक-चमू के अचाक-चक चहूँ ओर,
चाक-सी फिरति धाक चंपति के लाल की।
भूषन भनत पातसाही मारि जेर कीन्हीं,
काहू उमराव ना करेरी करवाल की॥
सुनि-सुनि रीति बिरुदैत के बड़प्पन की,
थप्पन-उथप्पन की बानि छत्रसाल की।
जंग-जीतिलेवा, तेऊ ह्वै के दामदेवा भूप,
सेवा लागे करन महेवा महिपाल की।
भुज-भुजगेस की वैसंगिनी भुजंगिनी-सी,
खेदि खेदि खाती दीह दारुन दलन के।
बखतर पाखरन बीच धँसि जाति मीन,
पैरि पार जात परवाह ज्यों जलन के॥
रैयाराव चंपति के छत्रसाल महाराज,
भूषन सकै करि बखान को बलन के।
पच्छी पर छीने, ऐसे परे पर छीने बीर,
तेरी बरछी ने बर छीने हैं खलन के॥

प्रश्न

(१) भूषण के काव्य की उन विशेषताओं का विवेचन कीजिए जिनके कारण वे मध्ययुगीन वीर काव्य के सर्वोत्तम कवि माने जाते है?

(२) रीति-काल के कवियों में भूषण के स्थान का निरूपण कीजिए और सिद्ध कीजिए कि उनका वास्तविक महत्त्व उनके काव्य-सौष्ठव में निहित है।

———

मतिराम

(जन्मकाल लगभग १६१७ ई०)

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही साहित्यिक क्षेत्रों में यह प्रसिद्धि रही है कि चिंतामणि, मतिराम और भूषण सगे भाई थे। यद्यपि इस प्रसिद्धि का कोई प्रमाण इन कवियों में से किसी की रचनाओं में नहीं मिलता, फिर भी यह परम्परागत जनश्रुति अधिकांश विद्वानों के द्वारा मान्य है। उन्नीसवीं शताब्दी में बिहारीलाल नाम के एक कवि (प्रसिद्ध बिहारीलाल से भिन्न) हुए हैं जिन्होंने अपने को मतिराम का प्रपौत्र बताते हुए अपने वंश का परिचय दिया है और मतिराम के साथ भूषण और चिंतामणि का भी उल्लेख किया है। उन्होंने अपना तथा अपने पूर्वजों का निवास-स्थान यमुना-तट-स्थित त्रिविक्रमपुर तथा अपनी जाति कश्यप वंशी कान्यकुब्ज त्रिपाठी बताई है। भूषण ने भी 'शिवराजभूषण' में अपने को त्रिविक्रमपुर निवासी, कश्यप-वंशी कान्यकुब्ज ब्राह्मण रत्नाकर का पुत्र लिखा है। यह त्रिविक्रमपुर कदाचित् कानपुर जिले का टिक्मापुर गाँव ही था जो चिंतामणि, मतिराम और भूषण की जन्म-भूमि प्रसिद्ध है। मतिराम को बूँदी के महाराज भावसिंह के यहाँ बहुत समय तक आश्रय मिला था और उनकी प्रशंसा में उन्होंने अपना 'ललितललाम' नामक अलंकारों का लक्षण ग्रंथ लिखा था। मतिराम की सर्वश्रेष्ठ रचना 'रसराज' है जिसमें नायक-नायिका-भेद तथा भाव-विभाव आदि काव्यांगों के लक्षण-उदाहरण दिए गए हैं। बिहारी की

भांति उन्होंने 'सतसई' की भी रचना की। मतिराम की अन्य रचनाओं में 'फूलमजरी' अनुमानतः उनकी सबसे पहली कृति थी, जो जहांगीर की आज्ञा से रची गई थी। 'छदसार पिंगल' नामक पिंगल ग्रंथ भी बुंदेलखंड के किसी राजा के लिए था तथा 'अलकार पचाशिका' कुमायूं नरेश के आश्रय में रचा गया था। 'साहित्यसार' और 'लक्षणशृङ्गार' क्रमशः नायिका-भेद और भाव-विभाव सम्बन्धी बहुत छोटी-छोटी रचनाएं हैं।

मतिराम की रचनाओं के उपर्युक्त नामोल्लेख से यह विदित होता है कि वे प्रमुख रूप में लक्षण-कार कवि थे। 'सतसई' के अतिरिक्त उनकी सभी रचनाएँ नायिका-भेद, भाव-विभावादि अथवा अलकार से सबधित हैं। किंतु मतिराम की सफलता का वास्तविक कारण उनका काव्यागों का ज्ञान नहीं, बल्कि उनकी कवित्व-शक्ति है। उन्होंने अत्यत भावुक और सरस हृदय पाया था तथा अपनी भावना को सरल, स्वाभाविक और मनोमोहक शैली में व्यक्त करने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। रीति-काल के अन्य अनेक कवियों की भांति न तो उन्होंने भावों की कृत्रिम ऊहापोह दिखाई है, न केवल उक्ति-चमत्कार का प्रदर्शन किया है, और न भाषा के प्रयोग में मनमानी की है। मतिराम ने निश्चय ही सतसई की रचना के लिए बिहारी से प्रेरणा ली होगी, किंतु अन्य सतसइयों की भांति उनके प्रयास में अनुकरण की प्रवृत्ति कम पाई जाती है। बिहारी जैसी वचन-विदग्धता और अर्थ-गभीरता भले ही उनमें न हो, किंतु वे जिस सरल, स्वच्छ और सरस शैली में भाव-व्यजना करते हैं, उसके कारण रीति-काल के कवियों में उनका अनूठा स्थान हो गया है। रसराज के सवैया और कवित्तों में सश्लिष्ट चित्र-योजना, भाषा का नाद-सौंदर्य और सगीतात्मक प्रवाह है। मतिराम का 'ललितललाम' मुख्य रूप से वीर रस की रचना है। नीति, वैराग्य और भक्ति तो उनकी रचनाओं में पाया ही जाता है। इस प्रकार सभी दृष्टियों से मतिराम रीति-काल का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं।

रूप-माधुरी

क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै, मोहन को तन-पानिप पीजै।
नेकु निहारे कलंक लगै, इहि गाँव बसे कहौ कैसे कै जीजै॥
होत रहै मन यों मतिराम, कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिए लगिए, अरु ह्वै मुरली अधरा-रस लीजै॥

गुच्छनि के अवतंस लसैं सिर, पच्छन अच्छ किरीट बनायो।
पल्लव लाल समेत छरी, कर-पल्लव सा मतिराम सुहायो॥
गुंजनि के उर मंजुल हार, सु कुंजनि तें कढ़ि बाहर आयो।
आजु को रूप लसैं नँदलाल को, आजहिं नैननि को फल पायो॥

मोर-पखा मतिराम किरीट, मनोहर मूरति सों मनु लैगो।
कुंडल डोलनि गोल कपोलनि, बोल सनेह के बीज-से बैगो॥
लाल बिलोचनि-कौलन सों, मुसुकाइ इतै अरुझाइ चितैगो।
एक घरी घन-से तन सों, अँखियान घनों घनसार सो दैगो॥

मोर-पखा मतिराम किरीट मैं कंठ बनी बनमाल सुहाई।
मोहन की मुसुकानि मनोहर, कुंडल डोलनि मैं छबि छाई॥
लोचन लोल बिसाल बिलोकनि, को न बिलोकि भयो बस माई।
वा मुख की मधुराई कहा कहौं? मीठी लगै अँखियान-लुनाई॥

सुन्दरिबदनि राधे, सोभा कौ सदन तेरो,
बदन बनायो चारि-बदन बनाय कै।
ताकी रुचि लैन कौं उदित भयो रैनपति,
मूढ़मति राख्यो निज कर बगराय कै॥
मतिराम कहै, निसिचर चोर जानि याहि,
दीनी है सजाइ कमलासन रिसाय कै।

रातौं दिन फेरै अमरालय के आस-पास,
मुख मैं कलंक मिसि कारिख लगाय कै॥

मोर पखानि किरीट बन्यो, मुकुतानि के कुंडल स्रौन बिलासी।
चारु चितौनि चुभी मतिराम, सु क्यौं बिसरै मुसुकानि सुधा सी॥
काज कहा सजनी कुलकानि सौं लोग हँसै सिगरे ब्रजवासी।
मैं तो भई मनमोहन को मुखचंद लखैं बिन मोल की दासी॥

विविध

पारावार पीतम को प्यारी ह्वै मिली है गंग,
बरनत कोऊ कवि-कोबिद निहारि कै।
सो तो मतो मतिराम के न मन मानै, निज
मति सौं कहत यह बचन बिचारि कै॥
जरत बरत बड़वानल सौं बारिनिधि,
बीचिनि के सोर सौं जनावत पुकारि कै।
ज्यावत बिरंचि ताहि, प्यावत पियूष निज,
कलानिधि मंडल कमंडल तैं ढारि कै॥

बारि के बिहार बर बारनि के बोरिबे कौं,
बारिचर बिरची इलाज जय काज की।
कहै मतिराम बलवंत जल-जंतु जानि,
दूर भई हिम्मत दुरद सिरताज की॥
असरन-सरन के चरन-सरन तके,
त्यौं ही दीनबंधु निज नाम की सु लाज की।
धाए रति मान, अति आतुर गुपाल, मिली
बीच ब्रजराज कौं गराज गजराज की॥

तेरो कह्यौ सिगरो मैं कियो, निसि-द्योस तप्यो तिहुँ तापन पाई।
मेरो कह्यौ अब तू करि जो, सब दाह मिटै परिहै सियराई॥

संकर-पायनि मैं लगि रे मन, थोरे ही बातनि सिद्धि सुहाई।
आक-धतूरे के फूल चढ़ाए तें रीझत हैं तिहुँ लोक के साँई॥

जेते ऐंड़दार दरबार-सरदार, सब
ऊपर प्रताप दिल्लीपति को अभंग भौ।
मतिराम कहै करवार के कसैया केते
गाड़र-से मूँड़े जग हाँसी को प्रसंग भौ॥
सुरजन-सुत रज-लाज-रखवारो एक
भोज ही तें साहि को हुकुम-पग पंग भौ॥
मूँछनि सौं राव-मुख लाल रंग देखि, मुख
औरनि को मूँछनि बिना ही स्याम रंग भौ॥

दारुन तेज दिलीस के बीरनि, काहू न बंस के बाने बजाए।
छोड़ि हथ्यारनि, हाथनि जोरि, तहाँ सबही मिलि मूड़ मुड़ाए॥
हाड़ा हठी रह्यो ऐंड किए, मतिराम दिगंतन में जस छाए।
भोज के मूछनि लाज रही, मुख औरनि लाज के भार नवाए॥

* * * *

मो मन तम-तोमहि हरौ, राधा को मुख-चंद।
बढ़ै जाहि लखि सिंधु लौं, नँद-नंदन आनद॥

राधा मोहनलाल को, जाहि न भावत नेह।
परियौ मुठी हजार दस, ताकी आँखिनि खेह॥

पगी प्रेम नँदलाल के, भरनु आपु जल जाइ।
घरी-घरी घर के तरें, घरनि देति ढरकाइ॥

सतरौहीं भौंहनि नहीं, दुरै दुराए नेह।
होति नाम नँदलाल की दीपमाल-सी देह॥

कोटि-कोटि मतिराम कहि, जतन करौ सब कोइ।
फाटे मन अरु दूध में, नेह न कबहूँ होइ॥

दुख दीने हूँ सुजन जन, छोड़त निज न सुदेस।
अगरु डारियत आगि में, करत सुवासित केस ॥

जगे जोन्ह की जोति यों, छपै जलद की छाँह।
मनो छीरनिधि की उठैं, लहरि-छहरि छिति माँह ॥

नंदलाल के रूप पर, रीझि परी एक बारि।
अधमूँदी अँखियनि दई, मूँदी प्रीति उघारि ॥

पिसुन बचन सज्जन चितै, सकै न फोरि न फारि।
कहा करै लगि तोय मैं तुपक, तीर, तरवारि ॥

विहिं पुरान नव द्वै पढ़ै, जिहि जानी यह बात।
जो पुरान सो नव सदा, नव पुरान ह्वै जात ॥

बरनत सोंच असंग कै, तुमकों बेद गुपाल।
हिए हमारे बसत हौ, पीर न पावत लाल ॥

पगी प्रेम नँदलाल के, हमें न भावत जोग।
मधुप राज-पद पाइ कै, भीख न माँगत लोग ॥

मधुप त्रिभंगी हम तजी, प्रगट परम करि प्रीति।
प्रगट करी सम जगत में, कटु कुटिलनि की रीति ॥

देखत दीपति दीप की, देत प्रान अरु देह।
राजत एक पतंग मे, बिना कपट को नेह ॥

भयो सिंधु तें बिधु सुकबि, बरनत सुमति बिचार।
उपज्यौ तो मुख इंदु तें, प्रेम-पयोधि अपार ॥

प्रश्न

(१) 'मतिराम रस-प्रधान कवि हैं, उक्ति-वैचित्र्य-प्रधान नहीं' इस कथन को सोदाहरण प्रमाणित कीजिए।

(२) लक्षणकार कवि किसे कहते हैं ? मतिराम इस कोटि में किस प्रकार आते हैं ? रीति-काल के कवियों में उनका स्थान निर्धारित कीजिए।

———

देवदत्त

(सन् १६७३-१७६८ ई०)

देवदत्त का कविता का उपनाम देव था और वे इसी नाम से प्रसिद्ध हुए। स्वयं देव ने अपने को दुसरिहा ब्राह्मण लिखा है। यह निश्चित है कि वे कान्य-कुब्ज द्विवेदी ब्राह्मण थे और उनके पिता का नाम कदाचित् बिहारीलाल था।

देव के दो पुत्र हुए, जिनके वंशज आज तक वर्तमान हैं—एक के इटावे में तथा दूसरे के इटावे से ३० मील दूर कुसमरा नामक गाँव में। प्रसिद्ध है कि देव युवावस्था में इटावा छोड़ कर कुसमरा जा बसे थे।

आश्रय-दाता की खोज में देव को बहुत भटकना पड़ा। उनके सबसे पहले आश्रय-दाता औरंगजेब के पुत्र आजमशाह थे, जिनकी सेवा में उन्होंने अपनी पहली दो रचनाएँ—'भावविलास' और 'अष्टयाम' प्रस्तुत की थी। अपने अन्य आश्रय-दाताओं में देव ने भवानीदत्त, भोगीलाल, सुजान-मणि और अकबरअली खाँ की विशेष प्रशंसा की है। प्रत्येक आश्रय-दाता के लिए उन्हें कोई न कोई रचना करनी पड़ती थी। किंतु इन रचनाओं में अधिक-तर नाम की ही नवीनता रहती थी, सामग्री बहुतों में एक ही होती थी। इसी कारण इनके ग्रंथों की संख्या बहुत है। अब तक देव के २६-३० ग्रंथों का पता लगा है, जिनमें उपर्युक्त दो ग्रंथों के अतिरिक्त 'भवानीविलास', 'रस-विलास', 'प्रेमचंद्रिका', 'रागरत्नाकर', 'सुजानविनोद', 'शब्दरसायन', 'सुख-सागरतरंग', 'जातिविलास', 'कुशलविलास' और 'प्रेमतरंग' शृंगार रस से संबंधित हैं। सौ छंदों की चार कृतियाँ वैराग्य और भक्ति विषयक हैं तथा एक

'नीतिशतक' नामक रचना भी है । 'देवमायाप्रपंच' नामक एक पद्य-नाटक तथा 'देवचरित्र' शीर्षक कृष्ण-कथा विषयक एक खडकाव्य की भी उन्होंने रचना की थी । एक रचना वैद्यक विषयक तथा 'वृक्षविलास' नामक एक अन्य उपयोगी विषय की पुस्तक है ।

उपर्युक्त विवरण से प्रकट होता है कि देव की रचनाओ में विषय और रूप की अनुपम विविधता है । यह अवश्य है कि उनका नाटक और खडकाव्य रूप की दृष्टि से सफल नही है तथा अन्य रीति कालीन कवियों की भांति देव को भी मुक्तककार के ही रूप में सफलता मिली है । उनकी रचनाओं में शृंगार रस की ही प्रधानता है तथा वे अधिकाश में रस, भाव, नायिका-भेद आदि के उदाहरण रूप प्रस्तुत की गई हू । देव को काव्यागो का समुचित ज्ञान था और इस विषय के वे साधारण पडित कहे जा सकते हैं। किंतु वे रीति-काल के सर्व-श्रेष्ठ आचार्य कवियों में नही गिने जा सकते । शुद्ध कवि के रूप में निश्चय ही उनकी गणना हिंदी के श्रेष्ठ कवियो में होती है । शृंगार रस के तो देव उत्तम कवि है ही, वैराग्य और भक्ति सबन्धी उनके छंद भी अनुभूति की गभीरता और तीव्रता प्रकट करते है। उनके काव्य का कला-पक्ष बिहारी के समान समृद्ध नही है, किन्तु भाव-पक्ष निश्चय ही बिहारी से श्रेष्ठतर है । देव के छदों में जैसी सगीतात्मकता और रसमग्न करने की क्षमता है, वैसी बिहारी के दोहो में नही पाई जाती । देव की शैली और भाषा के प्रयोगो में कहीं-कही ऐसी लाक्षणिकता और स्वच्छदता है कि वे आधुनिक काल के कवियो के निकट आते जान पडते हैं । उनके विचारो मे स्वच्छदता और प्राचीन परम्परा का खरा विरोध भी देखा जाता है । भाषा के साथ कभी-कभी उन्होंने अवश्य , अनुचित स्वतन्त्रता ली है, किन्तु इस विषय में उनकी स्थिति अन्य कवियो से अधिक आलोचना योग्य नही है । ब्रजभाषा के साहित्यिक माधुर्य और उसकी व्यजना-शक्ति बढाने मे देव ने महत्त्वपूर्ण योग दिया है । जहाँ उन्होंने पूर्ववर्ती कवियों से भाव लिए है, वहाँ परवर्ती कवियो ने उनका अनुकरण भी कम नही किया ।

प्रेमासक्ति

राधे कही है कि तैं छमियौ, ब्रजनाथ किते अपराध किये मैं।
कानन तान न भूलत, ना जिन आँखिन रूप अनूप पिये मैं॥
आपने ओछे हिये मैं दुराइ, दयानिधि देव बसाय लिये मैं।
हौं ही असाध, बसी न कहूँ पल आध अगाध बिहारे हिये मैं॥

साँसन ही सौं समीर गयौ, अरु आँसुन ही सब नीर गयौ ढरि।
तेजु गयौ गुन लै अपनौ, अरु भूमि गई तनु की तनुता करि॥
देव जियै मिलिबे ही की आस, कि आस हू पास अकास रह्यौ भरि।
जा दिन तें मुख फेरि हरै हँसि, हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि॥

चित दै चितऊँ जित ओर सखी, तित नंदकिशोर की ओर ठई।
दस हू दिसि दूसरो देखति ना, छबि मोहन की छिति-माहँ छई॥
कवि देव कहाँ लौं कछू कहिये, प्रतिमूरति हौं उनही की भई।
ब्रजबासिन कौं ब्रज जानि परै न, भयो ब्रज री ब्रजराज-मई॥

धार मैं धाइ धसीं निरधार ह्वै, जाय फँसीं, उकसीं न अँधेरी।
री अँगराइ गिरीं गहिरी, गहि फेरे फिरीं न, घिरीं नहिं घेरी॥
देव कछू अपनौ बस ना, रस लालच लाल चितै भईं चेरी।
बेगिही बूड़ि गईं पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी॥

बरुनी बघंबर मैं गूदरी पलक दोऊ,
कोए राते बसन, भगौहैं भेष रखियाँ।
बूड़ी जल ही मैं, दिन-जामिनि हूँ जागें, भौंहैं
धूम सिर छायौ, बिरहानल बिलखियाँ॥

अँसुवाँ फटिक-माल, लाल डोरे सेलो पैन्हि,
भई हैं अकेली, तजि चेली संग सखियाँ।
दीजियै दरस, देव कीजियै सँजोगिनि, ये
जोगिनि ह्वै बैठी हैं, बियोगिनि की अँखियाँ॥

प्रकृति

आस-पास पूरन प्रकास के पगार सूझै,
बनन अगार डीठ गली ह्वै निबरते।
पारावार पारद अपार दसौ दिसि बूड़ीं,
बिधु बरम्हंड उतरात बिधि बर ते॥
सारद जुन्हाई जह्नु पूरन सरूप धाई,
जाई सुधा-सिंधु नभ सेत गिरिबर ते।
उमड़ो परतु जोति-मंडल अखंड, सुधा-
मंडल मही मैं इंदु-मडल बिबर ते॥

फटिक सिलानि सों सुधार्‍यो सुधा-मंदिर,
उदधि दधि को-सो अधिकाई उमगै अमंद।
बाहेर ते भीतर लौं भीति न देखैए देव,
दूध को-सो फेनु फैलो आँगन फरसबंद॥
तारा-सी तरुनि तामें ठाढ़ी झिलमिलि होति,
मोतिन की जोति मिली मल्लिका को मकरंद।
आरसी-से अंबर मैं आभा-सी उज्यारी लगै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिंब सो लगत चंद॥

सुनिकै धुनि चातक मोरनि की, चहुँ ओरनि कोकिल कूकनि सों।
अनुराग-भरे हरि बागनि मैं, सखि रागत राग अचूकनि सों॥
कवि देव घटा उनई जु नई, बनभूमि भई दल दूकनि सों।
रँगराती हरी हहराती लता झुकि जाती समीर के झूकनि सों॥

उतै तौ सघन घन घिरि कै गगन, इतै
वन-उपवन बने बनक बनाए हैं।
तैसेई उलहि आए अंकुर हरित-पीत,
देव कहै विविध वटोहिन सुहाए हैं॥
बोलैं इत मोर, उत गरजैं मधुर धुनि,
मानौं मैन-भूप जग जीति घर आए हैं।
अंबर बिराजे वर, अंबरन छाए छिति,
पीरे, हरे, लाल ये जवाहिर बिछाए हैं॥

डार द्रुम पलना, बिछौना नव पल्लव के,
सुमन झँगूला सोहै तन छवि भारी दै।
पवन झुलावै, केकी कीर बहरावै देव,
कोकिल हलावै हुलसावै कर तारी दै॥
पूरित पराग सों उतारो करै राई लोन,
कंजकली-नायिका लतानि सिर सारी दै।
मदन महीप जू को बालक बसंत, ताहि
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै॥

विविध

औचक अगाध सिंधु स्याही को उमड़ि आयो
तामैं तीनौ लोक बूड़ि गए यक संग मैं।
कारे कारे आखर, लिखे जु कारे कागर,
सुन्यारे करि बाँचै कौन जाँचै चित भग मैं॥
आँखिन मैं तिमिर अमावस की रैनि जिमि
जंबुरस-बुंद जमुना-जल-तरंग मैं।
यों ही मन मेरो, मेरे काम को न रह्यो माई,
स्याम रंग ह्वै करि समान्यो स्याम-रंग मैं॥

बाग्यो बन्यो जरवार को तामहिं ओस को तार तन्यो मकरी ने।
पानी मैं पाहन-पोत चल्यो चढ़ि, कागद की छतुरी सिर दीने॥

कॉख में बाँधिके पाँख पतंग के, देव सुसंग पतंग को लीने।
मोम के मंदिर माखन को मुनि, बैठयो हुतासन आसन कीने॥

हाय दई यहि काल के ख्याल में, फूल-से फूलि सबै कुम्हिलाने।
देव अदेव, वली बल-हीन, चले गए मोह की हौंसहि लाने॥
या जग बीच बचै नहि मीचु पै, जे उपजे ते मही में मिलाने।
रूप कुरूप, गुनी निगुनो, जे जहाँ जनमे, ते तहाँई बिलाने॥

जाके न काम, न क्रोध, विरोध न, लोभ छुवै नहिं छोभ को छाँहो।
मोह न जाहि, रहै जग बाहिर, मोल जवाहिर तौ अति चाहौ॥
बानी पुनीत ज्यौं देवधुनी, रस आरद सारद के गुन गाहौ।
सील-ससी, सबिता-छबिता, कबि ताहि रचै, कबि ताहि सराहौ॥

अनुराग के रंगनि, रूप तरंगनि, अंगनि ओप मनौ उफनी।
कबि देव हिये सिय रानी सबै, सिय रानी को देखि सुहाग सनी॥
वर धामनि बाम चढ़ी वरसैं, मुसुकानि सुधा घनसार सनी।
सखियान के आनन-इंदुन ते, अँखियान की बंदनवार तनी॥

मूढ़ कहैं मरिकै फिरि पाइए, ह्यां जु लुटाइए भौन भरे को।
ते खल खोइ खिस्यात खरे, अवतार सुन्यो कहुँ छार परे को॥
जीवत तौ व्रत भूख सुखौत सरीर महा सुररूख हरे को।
ऐसी असाधु असाधुन की बुधि, साधन देत सराध मरे को॥

प्रश्न

(१) अन्य रीतिकालीन कवियों की तुलना में देव की काव्यगत विशेषताओं का निरूपण कीजिए।

(२) देव की भक्ति और वैराग्य सम्बंधी रचना की सराहना कीजिए और उसके भावों का विश्लेषण कीजिए।

मैथिलीशरण गुप्त

(जन्म सन् १८८५ ई०)

चिरगाँव जिला झाँसी के निवासी स्वर्गीय सेठ रामचरण के सुपुत्र मैथिलीशरण जी को कविता का वरदान अपने पिता से ही मिला था।

किन्तु उनकी प्रतिभा का विकास आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'सरस्वती' के माध्यम से हुआ। गुप्त जी के अर्द्ध शताब्दी से भी अधिक रचना-काल में अब तक उनके छोटे-बड़े ग्रंथों की संख्या तीन दर्जन से भी ऊपर हो गई है। इनमें निबन्ध, पद्य-पत्र, खण्डकाव्य, गीति-प्रबन्ध, गीति-मुक्तक, गीति-नाट्य, आत्मकथा-काव्य और महाकाव्य—अनेक काव्य रूपों में नए-पुराने विविध छंदों का व्यवहार हुआ है।

गुप्त जी की सबसे पहली प्रसिद्ध रचना 'भारतभारती' है जिसमें उन्होंने हमारे अतीत के गौरव, वर्तमान की अधोगति तथा भविष्य की आशा-आकांक्षा का बड़ा करुण और ओजस्वी चित्रण किया है। कवित्व की दृष्टि से गुप्त जी की पहली प्रसिद्ध रचना 'जयद्रथवध' है। इसमें भी करुण और ओज भावों की प्रभावशाली अभिव्यक्ति हुई है। 'पंचवटी' नामक अन्य खण्ड-काव्य प्रकृति-चित्रण और कोमल भावनाओं के प्रकाशन के लिए प्रसिद्ध है। किन्तु जिस ग्रन्थ में गुप्त जी की प्रतिभा महाकवि के रूप में चमकी वह है राम-कथा को नए रूप में उपस्थित करने वाला महाकाव्य 'साकेत'। राम-काव्य में उपेक्षिता उर्मिला के विरह-व्यथित करुण चरित्र का अंकन इस रसभरी रचना के द्वारा गुप्त जी का मूल उद्देश्य पूर्ववर्ती कवियों की त्रुटि को दूर करना था। निःसन्देह उन्होंने उर्मिला के जीवन में प्रेम, आत्मोत्सर्ग और

कर्तव्य-पालन के उच्च आदर्श का कवित्वपूर्ण सामञ्जस्य किया है। कदाचित् इससे भी अधिक सराहनीय मौलिकता उन्होंने कैकेयी के चिर-लांछित चरित्र का कलंक मिटाने में दिखाई है। गुप्त जी का हृदय अत्यन्त द्रवणशील है। उनके वैष्णव हृदय में पीड़ितों और दलितों के लिए जो सच्ची सम्वेदना है उसी के कारण उन्होंने भारतीय नारी में त्याग और करुणा की साक्षात् प्रतिमा देखी है। उत्तरा, उर्मिला और कैकेयी के चरित्रांकन से भी परितृप्त न हो कर गुप्त जी ने 'यशोधरा' की रचना की, जिसमें उर्मिला के ही आदर्श का चरम विकास अक्षय करुणा और आत्म-विश्वास के साथ व्यक्त हुआ है। 'झंकार' में गुप्त जी ने 'छायावादी' काव्य-धारा से प्रभावित होकर गीति-मुक्तकों की रचना की है, किन्तु गीति-काव्य में उन्हें 'साकेत' और 'यशोधरा' में ही वास्तविक सफलता मिली। करुण भावों का ही मर्मस्पर्शी चित्रण 'कुणालगीत' में भी हुआ है। गुप्त जी की करुणा का आधार मानवता में उनकी दृढ़ निष्ठा है। मनुष्य पतन के गर्त में जा कर भी ऊँचे से ऊँचा उठ सकता है यही उन्होंने पौराणिक खण्डकाव्य 'नहुष' में दिखाया है। द्वापर में कृष्ण-कथा के पात्रों का नया चरित्र-चित्रण तथा भ्रमर गीत को नया रूप मिला है। महाभारत के अनेक आख्यानों को लेकर उन्होंने कई छोटे-छोटे काव्य रचे थे। उन्हें मूल या संशोधित रूप में एकत्र करके तथा कुछ और रचना मिला कर गुप्त जी ने 'जयकाव्य' नाम से नवीन महाकाव्य का प्रणयन किया है। उनकी लेखनी में आज भी तारुण्य है।

यद्यपि अपनी रचनाओं के विषय गुप्त जी ने अधिकतर रामायण, महाभारत, बौद्ध साहित्य, पुराण और इतिहास से ही चुने, परन्तु उनकी व्याख्या उन्होंने युग के आदर्श के ही अनुसार की है। इस सम्बन्ध में वे इतने सजग रहे हैं कि ज्यों-ज्यों देश के सामाजिक और राजनीतिक वातावरण में उन्नति होती गई, त्यों-त्यों उनका काव्य भी उन्नत होता हुआ हमारी राष्ट्रीय चेतना को अभिव्यक्ति देता गया। देश के सर्वांगीण पुनरुत्थान की भावना, जिसका निर्माण राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी ने वैष्णव आदर्शों के आधार पर किया, गुप्त जी की रचनाओं में ओत-प्रोत है। राष्ट्रीय चेतना का प्रतिनिधित्व करने के नाते वे निःसंदेह हमारे राष्ट्र-कवि हैं।

उर्मिला

प्रिय ने सहज गुणों से, दीक्षा दी थी मुझे प्रणय, जो तेरी,
आज प्रतीक्षा-द्वारा, लेते हैं वे यहाँ परीक्षा मेरी।
जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी,
हरी भूमि के पात-पात में मैंने हृद्गति हेरी।

खींच रही थी दृष्टि सृष्टि यह स्वर्णरश्मियाँ लेकर,
पाल रही ब्रह्माण्ड प्रकृति थी, सदय हृदय में सेकर,
तृण-तृण को नभ सींच रहा था बूँद-बूँद रस देकर,
बढ़ा रहा था सुख की नौका समय समीरण खेकर।
बजा रहे थे द्विज दल-बल से शुभ भावों की भेरी,
जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी।

वह जीवन-मध्याह्न सखी, अब श्रान्ति क्लान्ति जो लाया,
खेद और प्रस्वेद-पूर्ण यह तीव्र ताप है छाया।
पाया था सो खोया हमने, क्या खोकर क्या पाया?
रहे न हममें राम हमारे, मिली न हमको माया!
यह विषाद! वह हर्ष कहाँ अब देता था जो फेरी,
जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी।

वह कोइल, जो कूक रही थी, आज हूक भरती है,
पूर्व और पश्चिम की लाली, रोष-वृष्टि करती है।
लेता है निःश्वास समीरण, सुरभि धूलि चरती है,
उबल सूखती है जलधारा, यह धरती मरती है।

पत्र-पुष्प सब बिखर रहे हैं, कुशल न मेरी-तेरी,
जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी।
आगे जीवन की सन्ध्या है, देखें क्या हो आली,
तू कहती है—'चन्द्रोदय हो, काली में उजियाली'?
सिर-आँखों पर क्यों न कुमुदिनी लेगी वह पद-लाली?
किंतु करेंगे कोक-शोक की तारे जो रखवाली?
'फिर प्रभात होगा' क्या सचमुच? तो कृतार्थ यह चेरी,
जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी।

* * * *

मानो मज्जित हुई पुरी जय जय के रव में,
पुरजन, परिजन लगे इधर अभिषेकोत्सव में।
पाई प्रभु से इधर नई छवि राज-भवन ने,
सागर का माधुर्य पी लिया मानो घन ने।

पाकर अहा! उमंग उर्मिला-अंग भरे थे,
आली ने हँस कहा—"कहाँ ये रंग भरे थे?
सुप्रभात है आज, स्वप्न की सच्ची माया!
किंतु कहाँ वे गीत, यहाँ जब श्रोता आया!
फड़क रहा है वाम नेत्र, उच्छ्वसित हृदय है,
अब भी क्या तन्वंगि, तुम्हें संशय या भय है?

आओ, आओ तनिक तुम्हें सिंगार सजाऊँ,
बरसों की मैं कसक मिटाऊँ, बलि बलि जाऊँ!"
"हाय! सखी, शृंगार? मुझे अब भी सोहेंगे?
क्या वस्त्रालंकार मात्र से वे मोहेंगे?
मैंने जो वह 'दग्ध-वर्त्तिका' चित्र लिखा है,
तू क्या उसमें आज, उठाने चली शिखा है?

नहीं, नहीं, प्राणेश मुझी से छले न जावें,
जैसी हूँ मैं, नाथ मुझे वैसा ही पावें।
शूर्पणखा मैं नहीं—हाय, तू तो रोती है।
अरी, हृदय की प्रीति हृदय पर ही होती है।"
"किन्तु देख यह वेश दुखी होंगे वे कितने?"
"तो, ला भूषण-वसन, इष्ट हों तुझको जितने।
पर यौवन-उन्माद कहाँ से लाऊँगी, मैं?
वह खोया धन आज कहाँ सखि, पाऊँगी मैं?"
"अपराधी-सा आज वही तो आने को है,
बरसों का यह दैन्य सदा को जाने को है।
कल रोती थीं आज मान करने बैठी हो,
कौन राग यह, जिसे गान करने बैठी हो?
रवि को पाकर पुन पद्मिनी खिल जाती है,
पर वह हिमकण बिना कहाँ शोभा पाती है?"
"तो क्या आँसू नहीं सखी, अब इन आँखों में?
फूटें, पानी न हो बड़ी भी जिन आँखों में?"
"प्रीति स्वाति का पिया शुक्ति बन बन कर पानी,
राजहंसिनी, चुनो रीति-मुक्ता अब रानी!"
"विरह रुदन में गया, मिलन में भी मैं रोऊँ,
मुझे और कुछ नहीं चाहिए, पद-रज धोऊँ।
जब थी तब थी आलि, उर्मिला उनकी रानी,
वह बरसों की बात आज हो गई पुरानी!
अब तो केवल रहूँ सदा स्वामी की दासी,
मैं शासन की नहीं, आज सेवा की प्यासी।
युवती हो या आलि, उर्मिला बाला तन से,
नहीं जानती किन्तु स्वयं, क्या है वह मन से!
देखूँ, वह, प्रत्यक्ष आज अपने सपने को,
या सज-धजकर आप दिखाऊँ मैं अपने को?

सखि, यथेष्ट है यही धुली धोती ही मुझको,
लज्जा उनके हाथ, व्यर्थ चिन्ता है तुझको।
उछल रहा यह हृदय अंक में भर ले आली,
निरख तनिक तू आज डीठ संध्या की लाली।
मान करूँगी आज ? मान के दिन तो बीते,
फिर भी पूरे हुए सभी मेरे मनचीते।
टपक रही वह कुञ्ज-शिला वाली शेफाली,
जा नीचे, दो चार फूल चुन, ले आ डाली!
वनवासी के लिए सुमन की भेंट भली वह!"
"किन्तु उसे तो कभी पा चुका प्रिये, अली यह!"
देखा प्रिय को चौंक प्रिया ने, सखी किधर थी?
पैरों पड़ती हुई उर्मिला हाथों पर थी।

लेकर मानो विश्व-विरह उस अंतःपुर में,
समा रहे थे एक दूसरे के वे उर में।
रोक रही थी उधर मुखर मैना को चेरी—
'यह हत हरिणी छोड़ गए क्यों नए अहेरी।'
"नाथ नाथ, क्या तुम्हें सत्य ही मैंने पाया?"
'प्रिये, प्रिये, हाँ आज-आज ही–वह दिन आया।
मेघनाद की शक्ति सहन करके यह छाती,
अब भी क्या इन पाद-पल्लवों से न जुड़ाती?
मिला उसी दिन किन्तु तुम्हें मैं खोया खोया,
जिस दिन आर्यो बिना आर्य का मन था रोया।
पूर्णरूप से सुनो, तुम्हें मैंने कब पाया,
जब आर्यो का हनूमान ने विरह सुनाया!
अब तक मानो जिसे वेषभूषा में टाला,
अपने को ही आज मुझे तुमने दे डाला।

आँखों में ही रही अभी तक तुम थीं मानो,
अंतस्तल में आज अचल निज आसन जानो।
परिधि-विहीन-सुधांशु सदृश-संताप-विमोचन,
धूल रहित, हिम-धौत सुमन-सा लोचन-रोचन,
अपनी द्युति से आप उदित, आडम्बर त्यागे,
धन्य अनावृत-प्रकृत-रूप यह मेरे, आगे।
जो लक्ष्मण था एक तुम्हारा लोलुप कामी,
कह सकती हो आज उसे तुम अपना स्वामी।"
"स्वामी, स्वामी, जन्म जन्म के स्वामी मेरे!
किंतु कहाँ वे अहोरात्र, वे साँझ सवेरे!
खोई अपनी हाय! कहाँ वह खिल खिल खेला?
प्रिय, जीवन की कहाँ आज वह चढ़ती वेला?"
काँप रही थी देह-लता उसकी रह रहकर,
टपक रहे थे अश्रु कपोलों पर बह बहकर।
"वह वर्षा की बाढ़, गई, उसको जाने दो,
शुचि-गंभीरता प्रिये, शरद की यह आने दो।
धरा-धाम को राम-राज्य की जय गाने दो,
लाता है जो समय प्रेम-पूर्वक लाने दो।"

यशोधरा

अब कठोर हो वज्रादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी!
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी॥

मेरे लिये पिता ने सब से धीर-वीर वर चाहा,
आर्यपुत्र को देख उन्होंने सभी प्रकार सराहा।
फिर भी हठ कर हाय! वृथा ही उन्हें उन्होंने थाहा,
किस योद्धा ने बढ़ कर शौर्य-सिंधु अवगाहा?

क्यों कर सिद्ध करूँ अपने को मैं उन नर की नारी ?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी ॥

देख कराल काल-सा जिसको काँप उठे सब भय से,
गिरे प्रतिद्वंद्वी नंदार्जुन, नागदत्त जिस हय से,
वह तुरंग पालित कुरग-सा नत हो गया विनय से,
क्यों न गूँजती रंगभूमि फिर उनके जय जय जय से ?
निकला वहाँ कौन उन जैसा प्रबल-पराक्रमकारी ?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी ॥

सभी सुन्दरी बालाओं में मुझे उन्होंने माना,
सब ने मेरा भाग्य सराहा, सब ने रूप बखाना,
खेद, किसी ने उन्हें न फिर भी ठीक ठीक पहचाना,
भेद चुने जाने का अपने मैंने भी अब जाना।
इस दिन के उपयुक्त पात्र की उन्हें खोज थी सारी।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी ॥

मेरे रूप-रंग, यदि तुझको अपना गर्व रहा है,
तो उसके झूठे गौरव का तूने भार सहा है।
तू परिवर्तनशील, उन्होंने कितनी बार कहा है—
'फूला दिन किस अंधकार में डूबा और बहा है ?'
किन्तु अन्तरात्मा भी मेरा था क्या विकृत-विकारी ?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी ॥

मैं अबला ! पर वे तो विश्रुत वीर-बली थे मेरे,
मैं इन्द्रियासक्त ! पर वे कब थे विषयों के चेरे ?
अयि मेरे अर्द्धांगि-भाव, क्या विषय मात्र थे तेरे,
हा ! अपने अंचल में किसने थे अंगार बिखेरे,
हे नारीत्व मुक्ति में भी तो ओ वैराग्य-विहारी !
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

सिद्धि-मार्ग की बाधा नारी ! फिर उसकी क्या गति है ?
पर उनसे पूछूँ क्या, जिनको मुझसे आज विरति है !
अर्द्ध विश्व में व्याप्त शुभाशुभ मेरी भी कुछ मति है !
मैं भी नहीं अनाथ जगत में, मेरा भी प्रभु—पति है !'
यदि मैं पतिव्रता तो मुझको कौन भार-भय भारी ?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

यशोधरा के भूरि भाग्य पर ईर्ष्या करने वाली,
तरस न खाओ कोई उस पर, आओ भोली-भाली !
तुम्हें न सहना पड़ा दुःख यह, मुझे यही सुख आली !
वधू-वंश की लाज दैव ने आज मुझी पर डाली !
बस, जातीय सहानुभूति ही मुझ पर रहे तुम्हारी।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

जाओ नाथ ! अमृत लाओ तुम,मुझमें मेरा पानी;
चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी, मुक्ति तुम्हारी रानी।
प्रिय, तुम तपो, सहूँ मैं भरसक, देखूँ बस हे दानी—
कहाँ तुम्हारी गुण-गाथा में मेरी करुण-कहानी ?
तुम्हें अप्सरा-विघ्न न व्यापे यशोधरा-कर-धारी !
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

कुणाल

बैठे अगति तुम किस विगत के शोक में ?
आक्षेप क्या, आक्रोश क्या इस लोक में ?
यदि लोक ने अपना दिया लौटा लिया,
तो फिर यहाँ उसने अमगत क्या किया ?
विष यह किसे दे, रस हमें उसने दिया,
भी पियेंगे हम, हमीं ने रस पिया !

सुख-दुःख दोनों मिल बसे इस ओक में।
आक्षेप क्या, आक्रोश क्या इस लोक में?

दयनीय फिर भी—आज भी—यह दीन है,
जीता किसी विधि विवश मरणाधीन है।
यह तो नहीं, जो सर्वथा गति-हीन है,
पर बद्ध पक्षी-सा क्षणिक उड्डीन है।
थमता कहाँ यह आप अपनी रोक में?
आक्षेप क्या, आक्रोश क्या इस लोक में?

हम किन्तु नव नव जन्म पाते जायँगे,
इसको न मरता छोड़ जाते जायँगे।
उस स्वर्ग को भी भूल आते जायँगे,
ऊँचा इसे तब तक उठाते जायँगे,
जब तक न यह आ जाय अमृतालोक में।
आक्षेप क्या, आक्रोश क्या इस लोक में?

प्रश्न

(१) "मैथिलीशरण गुप्त हमारे प्रतिनिधि कवि हैं", गुप्त जी की रचनाओं के आधार पर इस कथन को प्रमाणित कीजिए।

(२) 'साकेत' में गुप्त जी की मौलिकता किस प्रकार प्रकट हुई है?

(३) प्राचीन काव्य की तुलना में गुप्त जी के काव्य में भाषा, शैली और वर्ण्य-विषय की दृष्टि से आप कौन-सी विशेषताएँ पाते हैं?

———

माखनलाल चतुर्वेदी

(जन्म सन् १८८८ ई०)

चतुर्वेदी जी मध्य प्रदेश के निवासी हैं। उनका जन्म-स्थान होशंगाबाद जिले का बावई नामक गाँव है। हिन्दी मिडिल और नार्मल परीक्षाएँ पास करके वे सोलह वर्ष की अवस्था में ही खंडवा के मिडिल स्कूल में अध्यापक नियुक्त हो गए थे। किंतु उन्होंने अपना निजी अध्ययन जारी रखा और संस्कृत, अंग्रेजी तथा मराठी, गुजराती और बंगाली का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया।

साहित्य की ओर चतुर्वेदी जी की अभिरुचि उत्तरोत्तर बढ़ती गई और उन्होंने अपना अध्यापन कार्य छोड़ कर साहित्य-साधना को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाया। मध्य प्रदेश के प्रसिद्ध नेता स्वर्गीय माधव राव सप्रे के सहयोग से उन्होंने कर्मवीर नामक साप्ताहिक निकाला जिसके द्वारा उनकी साहित्यिक प्रतिभा का तो विकास हुआ ही उनके सार्वजनिक जीवन का भी निर्माण हुआ। वे सन् १९२१ में महात्मा गाँधी के आह्वान पर स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़े। तब से राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ उनका घनिष्ठ और सक्रिय संपर्क बना रहा। स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी के वे निकट के सहयोगियों में थे।

चतुर्वेदी जी की काव्य-रचना प्रचुर नहीं है। उनके कविता-संग्रह 'हिम किरीटिनी,' 'हिमतरंगिनी' माता' तथा 'त्रिधारा' केवल चार हैं, फिर भी आधुनिक हिन्दी काव्य के इतिहास में उनका सम्मानित स्थान है। उनकी

कारण यही है कि चतुर्वेदी जी का काव्य कल्पना-लोक का विहार नहीं, जीवन का अनुभूत रस है। महात्मा गांधी के स्वतंत्रता-संघर्ष के प्रारंभिक दिनों से ही 'एक भारतीय आत्मा', जो चतुर्वेदी जी का उपनाम है, अपनी ओजस्वी रचनाओं से शिक्षित समाज पर गहरा प्रभाव डालते रहे हैं। उनकी 'पुष्प की अभिलाषा' शीर्षक छोटी-सी कविता अत्यंत सरल होते हुए भी इसीलिए किशोरों और तरुणों के हृदय को स्पर्श करती है कि उसमें चतुर्वेदी जी का हृदय बोलता है। कदाचित् इसी कारण चतुर्वेदी जी की 'हिमतरंगिनी' का हिंदी की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक मान कर भारत सरकार ने पुरस्कृत किया है।

चतुर्वेदीजी की रचनाओं में देश-भक्ति के साथ प्रेम की एक तीक्ष्ण अनुभूति भी है। उनका प्रेम पीड़ा, व्याकुलता, कातरता एवं सर्वस्व निछावर कर डालने की उत्कंठा से अनुप्राणित है। कभी-कभी यह प्रेम अत्यंत सूक्ष्म और आध्यात्मिक हो कर रहस्यमय हो गया है। उनकी रचनाओं में राष्ट्रीयता, प्रेमानुभूति और रहस्य-संकेत इस प्रकार घुल मिल जाते हैं कि सरल होते हुए भी वे दुरूह लगती हैं।

ओज चतुर्वेदीजी की शैली का प्रधान गुण है। किन्तु भावना की कोमलता तथा अनुभूति की तीव्रता के आगे वे भाषा के संस्कार की तनिक भी चिंता नहीं करते। उर्दू की चुटीली शैली से वे प्रभावित हुए जान पड़ते हैं, किंतु उससे भी उन्होंने पूरा लाभ नहीं उठाया और फारसी-अरबी शब्दों का संस्कृत के तत्सम शब्दों के बीच ऐसा प्रयोग किया है कि पाठक की सौन्दर्य-भावना को चोट पहुँचती है। इतने पर भी उनकी रचना लगभग वैसी शक्ति रखती है जैसी कबीर की वाणी। पद्य-रचना के अतिरिक्त 'साहित्य देवता' नाम का उनका गद्य काव्य-संग्रह भी उनके भावुक हृदय का परिचायक है। 'कृष्णार्जुन युद्ध' नाटक तथा 'वनवासी' कहानी-संग्रह चतुर्वेदीजी की अन्य रचनाएं हैं।

हृदय की सच्ची अनुभूति और उसकी आडंबर-रहित अभिव्यक्ति ही कवि की श्रेष्ठता का वास्तविक मापदंड है, यह एक 'भारतीय आत्मा' की रचनाओं से भलीभांति प्रमाणित होता है।

मेरा उपास्य

"लो आया"---उस दिन जब मैंने सन्ध्या वन्दन बन्द किया,
क्षीण किया सर्वस्व काय के उज्ज्वल क्रम को मन्द किया।
द्वार बन्द होने को ही थे,—वायुवेग चलशाला था,
पापी हृदय कहाँ ? रसना में रटने को वनमाली था।
अर्द्ध रात्रि, विद्युत प्रकाश, घन गर्जन करता घिर आया,
लो जो बीते सहूँ—कहूँ क्या, कौन कहेगा—"लो आया" ॥
"लो आया"—छप्पर टूटा है वातायन दीवारें हैं,
पल पल में विह्वल होता हूँ, कैसी निर्दय मारें हैं।
बह जाने दो—कर्म धर्म की सामग्री बह जाने दो,
थोड़े चावल के कण हैं............जाने दो!
मैं गिर गया, कहा—क्या तू भी, भूल गया ममता माया;
सुनता था दुखिया पाता है—तू कहता है—"लो आया" ॥
"लो आया"—हा! वज्र वृष्टि है, निर्बल! सह ले किसी प्रकार,
मेरी दीन पुकार, धन्य है उचित तुम्हारी निर्दय! मार;
आराधना प्रार्थना, पूजा, प्रेमांजली, विलाप कलाप;
"तेरा हूँ, तेरे चरणों में हूँ"—पर कहाँ पसीजे आप!
सहता गया—जिगर के टुकड़ों का बल—पाया, हाँ पाया;
आशा थी—यह अब कहता है—अब कहता है—"लो आया" ॥
"लो आया"—हा हन्त! त्याग कर दुखिया ने हुंकार किया,
सब सहने जीवित रहने के लिये हृदय तैयार किया।
साथ दिया प्यारे अंगों ने, लो कुछ शीश उठा पाया,
जलते ही पर शीतल बूँदें! बिजली ने पथ चमकाया!

पर यह क्या ? झकोरों पर झोंके—उहूँ, बस वह कुछ झुँझलाया,
थरीया अकुलाया—हाँ सब कुछ दिखला लो "लो आया" ॥
हाथ पाँव हिल पड़े, हुआ हाँ सन्ध्या वन्दन बन्द हुआ,
ईंटे पत्थर रचता हूँ—स्वाधीन हुआ ! स्वच्छन्द हुआ,
टूटी, फूटी, कुटी,—पधारो !—नहीं, यहाँ मेरे आवें,
मेरी, मेरी मेरी कह प्यारे चरणों से चमकावें।
दीन, दुखी, दुर्बल, सबलों का विजयी दल कुछ कर पाया;
नभ फट पड़ा—उजेला छाया,—गूँज उठा—"लो आया" ॥

पुतलियों में कौन ?

पुतलियों में कौन ?
अस्थिर हो, कि पलकें नाचती हैं !
विन्ध्य-शिखरों से
तरल संदेश मीठे
बाँटता है कौन
इस ढालू हृदय पर ?
कौन पतनोन्मुख हुआ
दौड़ा मिलन को ?
कौन द्रुत-गति निज
पराजय की विजय पर ?
पत्र के प्रतिबिम्ब, धारों पर,
विकल छवि बाँचती है,
पुतलियों में कौन ?
अस्थिर हो, कि पलकें नाचती हैं !
बिना गूँथे, कौन
मुक्ताहार बन कर,
सिंधु के घर जा
रहा, पहुँचा रहा है ?

कौन अन्धा, अल्प
का सौन्दर्य दावा,
पूर्ण पर अस्तित्व
खोने जा रहा है?

कौन तरुणी इस पतन का
वेग जी से जाँचती है?
पुतलियों में कौन?
अस्थिर हो, कि पलकें नाचती हैं।
धूलि में भी प्राण है
जल दान तो कर,
धूलि में अभिमान है
उठे हरे सर,
धूलि में रत्न-दान है
फल चरम मधुर तर,
धूलि में भगवान है
फिरता घरों घर

धूलि में ठहरे बिना, यह
कौन-सा पथ नापती है
पुतलियों में कौन?
अस्थिर हो, कि पलकें नाचती हैं!

सिपाही

गिनो न मेरी श्वास,
छुए क्यों मुझे विपुल सम्मान?
भूलों के इतिहास,
खरीदे हुए विश्व-ईमान!!

अरि-मुण्डों का दान,
रक्त तर्पण भर का अभिमान,
लड़ने तक महमान,
एक पूँजी है तीर कमान!

धीरज रोग, प्रतीक्षा चिन्ता,
सपने बनें तबाही,
कह 'तैयार'! द्वार खुलने दे,
मैं हूँ एक सिपाही !

बदलें रोज बदलियाँ, मत कर
चिन्ता इसकी लेश,
गर्जन-तर्जन रहे, देख
अपना हरियाला देश !

खिलने से पहले टूटेंगी,
तोड़, बता मत भेद,
वनमाली, अनुशासन की
सूजी से अन्तर छेद !

श्रम सीकर-प्रहार पर जीकर,
बना लक्ष्य आराध्य,
मैं हूँ एक सिपाही ! बलि है
मेरा अन्तिम साध्य !

कोई नभ से आग उगल कर
किये शान्ति का -दान,
कोई माँज रहा हथकड़ियाँ
छेड़ क्रान्ति की तान !

कोई अधिकारों के चरणों
चढ़ा रहा ईमान,
'हरी घास शूली के पहले
की', तेरा गुणगान !

आशा मिटी, कामना टूटी,
बिगुल बज पड़ी यार !
मैं हूँ एक सिपाही ! पथ दे,
खुला देख वह द्वार ॥

प्रश्न

(१) माखनलाल जी की कविताओं की प्रभावोत्पादकता के कारणों पर प्रकाश डालिए और उनके सम्बन्ध में अपना व्यक्तिगत मत दीजिए।

(२) माखनलाल जी के अनुसार जीवन का क्या आदर्श होना चाहिए। उदाहरण देकर बताइए।

जयशंकर प्रसाद

(सन् १८८८—१९३७ ई०)

काशी के प्रसिद्ध सुँघनी साहु के सपन्न और सभ्रात परिवार में जन्म लेने के कारण प्रसाद जी का बचपन बड़े सुख में बीता, किन्तु जब वे ग्यारह वर्ष के थ तभी उनके पिता श्री देवीप्रसाद का देहान्त हो गया। प्रसाद जी की स्कूली शिक्षा तो सातवीं कक्षा से ही छूट गई थी, किन्तु उनके भाई ने घर पर ही उनके सस्कृत, हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी के अध्ययन का समुचित प्रबध कर दिया था। दुर्भाग्य से उनके भाई का भी देहात हो गया और परिवार का समस्त भार उन्ही पर आ पडा। ४८ वर्ष की अल्प आयु मे ही उनका स्वर्गवास हो गया।

प्रारभ म प्रसाद जी व्रजभाषा में लिखते थे। उनकी ये कविताएं 'चित्राधार' में सकलित हुई थी। उनके भावुक हृदय की सौंदर्य-प्रियता और प्रेम प्रवृत्ति इनमें भी झलकती है। 'काननकुसुम' में व्रजभाषा, खडीबोली दोनो की रचनाएं हैं जिनमें विषयो की नवीनता, कल्पना की उडान तथा छदो की विविधता है। खडीबोली में उनकी पहली रचना 'करुणालय' है। 'प्रेमपथिक' तथा 'महाराणा का महत्व' म अतुकात छन्दो का प्रयोग है।

• इसके बाद हिन्दी कविता में कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीताजलि' का प्रभाव आने लगा। 'झरना' में प्रकाशित प्रसाद जी की कविताएँ इस प्रभाव को प्रगट करती है। किन्तु उनके 'आंसू' के प्रकाशन से हिन्दी-जगत में हलचल

मच गई और आलोचकों ने प्रसाद जी को निराला और पंत के साथ हिन्दी कविता के नवीन युग का प्रमुख प्रवर्तक स्वीकार किया। 'आँसू' प्रेम-विरह का मनोहर काव्य है। उसकी शैली की सकेतात्मकता और कल्पनाओं की सूक्ष्मता के कारण कुछ लोगों को उसमें रहस्यमय अलौकिक प्रेम की झाँकी दिखाई देती है। स्वयं प्रसाद जी ने उसके दूसरे संस्करण में कुछ ऐसे छन्द जोड़ दिए जिनसे इस भ्रम की पुष्टि होती है। किन्तु 'लहर' की अनेक कविताओं में अज्ञात और अनन्त का प्रेम-पात्र के रूप में स्पष्ट संकेत किया गया है। प्रसाद जी की काव्य-प्रतिभा का चरम उत्कर्ष उनकी अन्तिम कृति 'कामायनी' में प्रकट हुआ है। इस महाकाव्य में एक अत्यन्त प्राचीन कथानक का सहारा लेकर प्रसाद जी की भावुक कल्पना, चिन्ता, आशा, काम, वासना, कर्म, ईर्ष्या और बौद्धिकता के भाव संघर्ष के बाद शांति लाभ करती है तथा ज्ञान और योग का परिचय पाती हुई मानस-तट पर ध्यान-मग्न हो कर अखण्ड आनन्द की उपलब्धि करती है। भावना और बुद्धि-तत्वों में प्रसाद जी भावना को श्रेष्ठता प्रदान करते हुए, दोनों के समन्वय को ही कल्याणकारी मानते हैं। 'कामायनी' छायावादी काव्य-धारा की तो मुकुटमणि है ही, हिन्दी की थोड़ी सी सर्वश्रेष्ठ कृतियों में उसका गौरवपूर्ण स्थान है।

प्रसाद जी मूलतः सौंदर्य, प्रेम, उमंग और आनन्द के कवि हैं। प्रकृति के बाह्य सौंदर्य को सूक्ष्म भावनाओं से अलंकृत करके वे उसे नया रूप देते हैं। प्रेम को वे सहज और श्रेय मानते हुए उसे समर्पण और उत्सर्ग से श्रेष्ठ बताते हैं। उनकी सौंदर्य-दृष्टि बहुत व्यापक तथा उनकी भावना चिन्तनशील है। उन्होंने प्राचीन साहित्य का गहरा अध्ययन और मनन किया था, इसीलिए उनकी रचनाएँ सांस्कृतिक महत्त्व रखती हैं। काव्य के अतिरिक्त उनका उपर्युक्त विशेषताएँ उनके नाटकों तथा उनकी कहानियों में भी प्रगट हुई हैं। तीन उपन्यास तथा एक निबन्ध संग्रह उनकी अन्य कृतियाँ हैं। २७ वर्ष के अल्प रचना-काल में अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाओं से संघर्ष करते हुए प्रसाद जी ने इतने प्रचुर और विविध साहित्य की रचना कर के हिन्दी साहित्य का मस्तक ऊँचा किया है।

चिन्ता

हिम गिरि के उत्तुंग शिखर पर, बैठ शिला की शीतल छाँह,
एक पुरुष, भीगे नयनों से, देख रहा था प्रलय प्रवाह!

नीचे जल था ऊपर हिम था, एक तरल था, एक सघन;
एक तत्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन।

दूर दूर तक विस्तृत था हिम स्तब्ध उसी के हृदय समान;
नीरवता-सी शिला चरण से टकराता फिरता पवमान।

तरुण तपस्वी-सा वह बैठा, साधन करता सुर-श्मशान;
नीचे प्रलय सिंधु लहरों का, होता था सकरुण अवसान।

उसी तपस्वी-से लम्बे, थे देवदारु दो चार खड़े;
हुए हिम-धवल जैसे पत्थर बन कर ठिठुरे रहे अड़े।

अवयव की दृढ़ मांस पेशियाँ, ऊर्जस्वित था वीर्य्य अपार;
स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का होता था जिनमें संचार।

चिंता-कातर वदन हो रहा पौरुष जिसमें ओतप्रोत;
उधर उपेक्षामय यौवन का बहता भीतर मधुमय स्रोत।

बँधी महा वट से नौका थी सूखे में अब पड़ी रही;
उतर चला था वह जल-प्लावन, और निकलने लगी मही।

निकल रही थी मर्म-वेदना करुणा विकल कहानी-सी
वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही, हँसती-सी पहचानी-सी।

"ओ चिंता की पहली रेखा अरी विश्व-वन की व्याली,
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण, प्रथम कंप-सी मतवाली'

हे अभाव की चपल बालिके, री ललाट की खल लेखा!
हरी-भरी-सी दौड़-धूप, श्रो जल-माया की चल रेखा!
इस ग्रह कक्षा की हलचल री! तरल गरल की लघु लहरी!
जरा अमर जीवन की, और न कुछ सुनने वाली, बहरी!
अरी व्याधि की सूत्र-धारिणी! अरी आधि, मधुमय अभिशाप!
हृदय-गगन में धूमकेतु-सी, पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप।
मनन करावेगी तू कितना? उस निश्चिन्त जाति का जीव;
अमर मरेगा क्या? तू कितनी गहरी डाल रही है नींव।
आह! घिरेगी हृदय लहलहे खेतों पर करका घन-सी;
छिपी रहेगी अन्तरतम में सबके तू निगूढ़ धन-सी;
बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिंता तेरे हैं कितने नाम!
अरी पाप है, तू, जा, चल, जा यहाँ नहीं कुछ तेरा काम
विस्मृति आ, अवसाद घेर ले नीरवते! बस चुप कर दे;
चेतनता चल जा, जड़ता से आज शून्य मेरा भर दे।"

"चिन्ता करता हूँ मैं जितनी उस अतीत की, उस सुख की;
उतनी ही अनन्त में बनती जातीं रेखायें दुख की।
आह सर्ग के अग्रदूत! तुम असफल हुए, विलीन हुए;
भक्षक या रक्षक, जो समझो, केवल अपने मीन हुए।
अरी आँधियो! ओ बिजली की दिवा-रात्रि तेरा नर्त्तन,
उसी वासना की उपासना, वह तेरा प्रत्यावर्त्तन।
मणि-दीपों के अन्धकारमय अरे निराशा-पूर्ण भविष्य?
देव-दम्भ के महामेध में सब कुछ ही बन गया हविष्य।
अरे अमरता के चमकीले पुतलो! तेरे वे जय नाद;
काँप रहे हैं आज प्रतिध्वनि बनकर मानो दीन विषाद।

प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित हम सब थे भूले मद में;
भोले थे, हाँ तिरते केवल सब विलासिता के नद में।
वे सब डूबे; डूबा उनका विभव, बन गया पारावार;
उमड़ रहा था देव सुखों पर दुःख जलधि का नाद अपार।"

श्रद्धा

कहा आगंतुक ने सस्नेह—"अरे तुम इतने हुए अधीर!
हार बैठे जीवन का दाँव, जीतते मर कर जिसको वीर।
तप नहीं, केवल जीवन सत्य करुण यह क्षणिक दीन अवसाद,
तरल आकांक्षा से है भरा सो रहा आशा का आह्लाद।
प्रकृति के यौवन का शृंगार करेंगे कभी न बासी फूल,
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र आह उत्सुक है उनकी धूल।
पुरातनता का यह निर्मोक सहन करती न प्रकृति पल एक,
नित्य नूतनता का आनंद किये है परिवर्त्तन में टेक।
युगों की चट्टानों पर सृष्टि डाल पद-चिह्न चली गंभीर,
देव, गंधर्व, असुर की पंक्ति अनुसरण करती उसे अधीर।"

"एक तुम, यह विस्तृत भू खंड प्रकृति वैभव से भरा अमंद;
कर्म का भोग, भोग का कर्म यही जड़ का चेतन आनंद।
अकेले तुम कैसे असहाय यजन कर सकते! तुच्छ विचार,
तपस्वी! आकर्षण से हीन कर सके नहीं आत्म-विस्तार।
दब रहे हो अपने ही बोझ खोजते भी न कहीं अवलम्ब;
तुम्हारा सहचर बनकर क्या न उऋण होऊँ मैं बिना विलम्ब!
समर्पण लो सेवा का सार सजल संसृति का यह पतवार,
आज से यह जीवन, उत्सर्ग इसी पद तल में विगत विकार।

दया, माया, ममता लो आज, मधुरिमा लो, अगाध विश्वास,
हमारा हृदय रत्न-निधि स्वच्छ तुम्हारे लिये खुला है पास।
बनो संसृति के मूल रहस्य तुम्हीं से फैलेगी वह बेल;
विश्व भर सौरभ से भर जाय सुमन के खेलो सुन्दर खेल।
और यह क्या तुम सुनते नहीं विधाता का मंगल वरदान—
"शक्तिशाली हो, विजयी बनो" विश्व में गूँज रहा जय गान।
डरो मत अरे अमृत सन्तान अग्रसर है मंगलमय वृद्धि,
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र खिंची आवेगी सकल समृद्धि।
देव-असफलताओं का ध्वंस प्रचुर उपकरण जुटाकर आज;
पड़ा है बन मानव सम्पत्ति पूर्ण हो मन का चेतन राज।

* * * *

शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय;
समन्वय उसका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय।"

किरण

किरण ! तुम क्यों बिखरी हो आज,
रंगी हो तुम किसके अनुराग।
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान,
उड़ाती हो परमाणु पराग।
धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश,
मधुर मुरली सी फिर भी मौन,—
किसी अज्ञात विश्व की विकल-
वेदना दूती सी तुम कौन !
अरुण शिशु के मुख पर सविलास,
सुनहली लट घुंघराली कान्त,

नाचती हो जैसे तुम कौन ?—
उषा के अंचल में अशान्त।
भला उस भोले मुख को छोड़,
और चूमोगी किसका भाल,
मनोहर यह कैसा है नृत्य,
कौन देता है सम पर ताल ?
कोकनद मधु धारा-सी तरल,
विश्व में बहती हो किस ओर ?
प्रकृति को देती परमानंद,
उठाकर सुन्दर सरस हिलोर।
स्वर्ग के सूत्र सदृश तुम कौन,
मिलाती हो उससे भूलोक ?
जोड़ती हो कैसा सम्बन्ध,
बना दोगी क्या विरज विशोक !
सुदिन मणि-वलय विभूषित उषा—
सुन्दरी के कर का संकेत—
कर रही हो तुम किसको मधुर,
किसे दिखलाती प्रेम निकेत।
चपल ! ठहरो कुछ लो विश्राम,
चल चुकी हो पथ शून्य अनंत,
सुमन मंदिर के खोलो द्वार,
जगे फिर सोया वहाँ वसन्त।

गीत

ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक ! धीरे धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी—

निश्छल प्रेम-कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे।

जहाँ साँझ-सी जीवन छाया,
ढीले अपनी कोमल काया,
नील नयन से ढुलकाती हो,
ताराओं की पाँति घनी रे।

जिस गम्भीर मधुर छाया में—
विश्व चित्र-पट चल माया में—
विभुता विभु-सी पड़े दिखाई,
दुख-सुख वाली सत्य बनी रे।

श्रम-विश्राम क्षितिज-वेला से—
जहाँ सृजन करते मेला से—
अमर जागरण उषा नयन से—
बिखराती हो ज्योति घनी रे।

पेशोला की प्रतिध्वनि

अरुण करुण बिम्ब!

वह निर्धूम भस्म रहित ज्वलन पिण्ड!
विकल विवर्त्तना से
विरल प्रवर्त्तना से
श्रमित नमित सा—

पश्चिम के व्योम में है आज निरलम्ब सा।
आहुतियाँ विश्व की अजस्र ले लुटाता रहा—
सतत सहस्र कर माला से—
तेज ओज बल जो वदान्यता कदम्ब सा।
पेशोला की उमियाँ हैं! शान्त, घनी छाया में—

तट तरु है चित्रित तरल चित्रसारी में।
झोपड़े खड़े हैं बने शिल्प से विषाद के—
दग्ध अवसाद से।
धूसर जलद खंड भटक पड़े हैं,
जैसे विजन अनत में।
कालिमा बिखरती है सन्ध्या के कलंक सी,
दुन्दुभि-मृदङ्ग-तूर्य—शान्त, स्तब्ध, मौन हैं।
फिर भी पुकार-सी है गूँज रही व्योम में—
कौन लेगा भार यह ?
कौन विचलेगा नहीं ?
दुर्बलता इस अस्थि मांस की—
ठोंक कर लोहे से परख कर वज्र से,
प्रलयोल्का-खंड के निकष पर कस कर
चूर्ण अस्थि पुञ्ज सा हँसेगा अट्टहास कौन ?
साधना पिशाचों की बिखर चूर-चूर होके
धूलि सी उड़ेगी किस दृप्त फूत्कार से।
कौन लेगा भार यह ?
जीवित है कौन ?
साँस चलती है किसकी
कहता है कौन ऊँची छाती कर मैं हूँ—
—मैं हूँ—मेवाड़ में,
अरावली शृंग-सा समुन्नत सिर किसका ?
बोलो, कोई बोलो—अरे क्या तुम सब मृत हो ?
आह, इस खेवा की !—
कौन थामता है पतवार ऐसे अन्धड़ में।

अन्धकार-पारावार गहन नियति-सा—
उमड़ रहा है ज्योति-रेखा हीन क्षुब्ध हो।
खींच ले चला है—
काल-धीवर अनन्त में,
सांस, सफरी सी अटकी है किसी आशा में।
आज भी पेशोला के—
तरल जल-मण्डलों में,
वही शब्द घूमता-सा—
गूँजता विकल है।
किन्तु वह ध्वनि कहाँ ?
गौरव की काया पड़ी माया है प्रताप की
वही मेवाड़ !
किन्तु आज प्रतिध्वनि कहाँ ?

प्रश्न

(१) प्रसाद जिस नई काव्य-धारा के प्रवर्तक माने जाते हैं, उसकी प्रमुख विशेषताएँ बतलाइए।

(२) मानवता के लिए किन समुन्नत आदर्शों को प्रसाद 'श्रद्धा' सर्ग में उपस्थित करते हैं ?

(३) प्रसाद-साहित्य की प्रचुरता और विविधता को बतलाते हुए उनकी काव्य-भाषा तथा शैली के महत्त्व को बतलाइए।

— —

सियारामशरण गुप्त

(जन्म सन् १८९५ ई०)

सियारामशरण जी के पिता सेठ रामनाथ गुप्त जो अच्छे कवि और संस्कृत के विद्वान् थे। स्कूली पढ़ाई तो सियाराम जी चिरगाँव की पाठशाला के आगे न हो सकी, किन्तु अपनी लगन और साधना के बल पर उन्होंने घर पर अध्ययन करके संस्कृत अंग्रेजी, बँगला, गुजराती और मराठी का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। वे तीस वर्ष के भी न हुए होंगे कि उनकी पत्नी का देहांत हो गया और तब से उन्होंने निरन्तर एकाकी जीवन बिताया। श्वास का रोग उनकी इक्कीस वर्ष की अवस्था से ही उनका सहचर है, किन्तु इन विषम परिस्थितियों में भी उनका साहस और विश्वास और अधिक निखरा है तथा उनकी स्वाभाविक करुण-भावना को इससे बल मिला है। सियारामशरण जी की मौलिक काव्य-कृतियों की संख्या १५ है। 'मौर्यविजय' ऐतिहासिक तथा 'नकुल' 'महाभारत' पर आधारित खंडकाव्य हैं। 'आत्मोत्सर्ग' में गणेशशंकर विद्यार्थी की आत्माहुति की कथा है। 'बापू' और 'नोआखाली' में बापू के अमर व्यक्तित्व की शाश्वत और सामयिक संदर्भों में झाँकियाँ दी गई हैं। 'आर्द्रा' और 'मृण्मयी' में छोटे-छोटे कथा-प्रसंगों के सहारे मार्मिक भावों की व्यंजना करने वाली कविताएँ हैं। 'विषाद' में कवि के पत्नी-वियोग से मर्माहत हृदय की पीड़ा और व्याकुलता को व्यक्त करने वाली कविताएँ हैं। 'उन्मुक्त' एक गीति-नाट्य है, जिसमें विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि में कवि ने जीवन के मूल आदर्शों और गांधीवाद के आधार पर नए समाज के निर्माण का संदेश दिया है। 'दूर्वादल', 'पाथेय' और 'दैनिकी'

में मुक्तक रचनाएँ सकलित हैं, किन्तु इनमें भी प्राय छोटे-छोटे घटना-प्रसगों का सहारा लिया गया है। 'जयहिन्द' प्रथम स्वतन्त्रता-दिवस पर लिखी ग ओज और उल्लासपूर्ण भारत-वन्दना है। 'निष्क्रिय प्रतिरोध' और 'कृष्ण-कुमारी' नामक दो गीति-नाट्य और हैं। काव्य के अतिरिक्त उन्होंने एक नाटक, तीन उपन्यास, तथा निबन्ध और कहानियाँ भी लिखी हैं।

सियारामशरण जी की रचनाएँ आकार में बडी नही हैं, कुछ ता बहुत छोटी हैं। किन्तु उनमें कवि का करुण कोमल हृदय सपूर्ण सच्चाई के साथ व्यक्त हुआ है। प्राचीन के प्रति उनमें दृढ आस्था और निष्ठा है, किन्तु नवीन के प्रति वे शकित और सदेहशील कभी नही हाते। वे यथार्थ को उसकी नग्नता में पहचानने वाले आदर्शवादी हैं। वस्तुत गांधी जी की भाँति उनका आदर्श यथार्थ से ही निकला है। वे स्नेह, सेवा, तपस्या, सहनशीलता और आत्म-बलिदान के द्वारा जीवन को सार्थक बनाने का सदेश देते हैं।

विषय वस्तु की भाँति कला-पक्ष में भी सियारामशरण जी की सजगता का परिचय मिलता है। अतुकात मुक्त छद का प्रयोग करने वाले कवियों में व अग्रगण्य हैं। छायावादी काव्य को किशोर भावना और रगीनी उनमें नही है, किन्तु उसकी शैली को उन्होने मौलिक रूप में अपनाया है। विवेकहीन उत्तेजना और हिसक वृत्ति के वे सहज विरोधी हैं किन्तु उनकी कविताओं में 'प्रगतिवाद' की समस्त विशेषताएँ सात्विकता का रूप धारण किए मिलती हैं। उनकी शैली की प्रमुख विशेषता यह है कि व भाव चि ण कथा अथवा घटना-प्रसगो के सहारे करते हैं। इससे उनमें यथार्थता, तर्क-सगति तथा नाटकीयता स्वभावतया आ जाती है। दैनिक जीवन के नगण्य प्रसगों को लेकर वे प्राय बड गूढ और विराट आध्यात्मिक सकेत कर देते हैं। उनकी अनेक कविताओं में उस प्रकार की लक्षणा और प्रतीक की शैली मिलती है, जैसी 'गीतांजलि' म है।

भाव और शैली दोनो दृष्टियो से सियारामशरण गुप्त आधुनिक कवियो म विशेष स्थान के अधिकारी हैं।

———

स्वतंत्र भारत

भारत, प्रभारत हे अमिताभ,
एक स्वर से अथक
गौतम से बापू तक
तेरा यही पौरुष परम है,
जीवन को एक यही साधना चरम है,
बन्धन से मुक्ति लाभ।

आज इसी हेतु जब तू स्वाधीन,
कोटि कोटि बन्दियों की कारा के कपाट खोल—
देकर स्वतन्त्रता का पूरा मोल,
बाहर की मुक्त वायु में नवीन
आ गया स्वतन्त्रों की समिति में,
अब तब आया नया पिछले की द्युति में।

तुझ पर दाय है महा महान।
लेकर स्वभार मात्र, भूमि के पतंगों-सी,
आत्मरत कूकते विहगों की
निज के लिये ही नहीं भरनी तुझे उडान!

तेरा ध्येय, ध्येय है धरातल का,
तेरा श्रेय श्रेय है सकल का।
तू ने जो सहा है पर-बन्धन में,
लुब्ध शोषकों के दुर्दमन में,
वध उसका है भली भाँति तुझे आत्मलब्ध।

मेरा घट

मेरे घट में थोड़ा जल है, सम्मुख ज्वाला-जाल;
तो क्या ठिठक खड़ा रह जाऊं, करूँ न कुछ इस काल ?
नहीं नहीं, संकुचित न हूँगा,
दूँगा मैं निश्चय ही दूँगा।
रीत गये मे भी भर लूँगा
यह चल-पवन कराल,—
जिससे बढ़ा जा रहा प्रतिपल उत्कट ज्वाला-जाल।
ठिठक नहीं रह जाऊँगा मैं निष्क्रिय-सा इस काल।
अनल सदा बुझने वाला है; हो क्या कोई भीत ?
मेरे घट में स्रोत-सरित के, सागर के, संगीत !
फिर भर सकता है, जो रीता;
उसका आश्वासन अनचीता।
जो जल गया, वहीं वह बीता,
भस्म आप अविनीत,
उड़ा फिरेगा इसी पवन में, हो क्यों कोई भीत ?
मेरे घट में स्रोत-सरित के, सागर के, संगीत ?

अमर

अमर हूँ मैं ओ काल कराल,
कर सकेगा तू क्या मेरा,
रहूँगा जीवित मैं चिरकाल,
व्यर्थ यह भ्रू-कुंचन तेरा !
उड़ा कर रज ही रज सब ओर,
भयंकर झंझा में झकझोर
उच्च मेरे जीवन का झाड़
उखाड़ेगा तू? अरे उखाड़ !

देख लूँ मैं भी तेरा तेज
मिली आहा! यह तो सुख-सेज!
हुआ निष्फल तेरा वह रोष;
सुरक्षित है मेरा मधु-कोष।
एक ही था मैं, अब हूँ चार;
नये अंकुर ये नेक निहार।
पल्लवों का पलना यह डाल
झूलता है नव-तन मेरा;
जी रहा हूँ यह मैं ओ काल,
व्यर्थ था भ्रू-कुंचन तेरा!
अमर हूँ मैं ओ काल-कृशानु
हर सकेगा तू क्या मेरा?
रहे तू कैसा ही वृष-भानु,
व्यर्थ है कोपानल तेरा।
निरन्तर होकर प्रखर प्रचंड,
तान कर अपना कटु-कोदण्ड,
हमारे जीवन-नद का स्रोत
सोख लेगा तू ओत प्रोत?
सोख ले तो यह भी कर देख,
नीर पर होगा वह जय-लेख
कर लिया तूने अपना काम
किन्तु मैंने पाया विश्राम।
जलद-यानों पर रख निज भार,
कर रहा हूँ मैं व्योम-विहार।
बरस यह पड़ा अजस्र अपार
चपल-चंचल नव-जल मेरा,
तरंगित है यह अचलाकार
व्यर्थ था कोपानल तेरा!

आश्वस्त

इतना यह चारों ओर संकुचितपन है,
कितना यह चारों ओर पराघहरण है!
सम्पूर्ण अरक्षित आज यहाँ जीवन है,
किस नये प्रेम से वैर-विरोध-वरण है,
इस वसुधा को मैं प्यार करूँगा तब भी!
इस पर जो यह उन्मुक्त असीम गगन है!
इस विषम धूप में साँस नहीं ले पाता!
यह जन-दावानल सहठ फैलता आता!
किस अग्निसुरा से मनुज आज मदमाता,
इस कलह-काण्ड का छोर जला-सा जाता!
छोड़ूँगा अंचल नहीं धरा का तब भी,
इसकी माटी निर्ज्वलन सिन्धु-सुस्नाता!

प्रश्न

(१) सियारामशरण गुप्त किस प्रकार गांधी जी के आदर्शों से प्रभावित हुए हैं। उनकी कविताओं का उल्लेख करके इस प्रश्न का उत्तर दीजिए।

(२) भावों में सरलता के साथ सियारामशरण गुप्त की कविताओं में आशय की गूढ़ता तथा कथन की मार्मिकता है, उदाहरण देकर इस कथन की सत्यता सिद्ध कीजिए।

———

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

(जन्म सन् १८९६ ई०)

गढ़कोला, जिला उन्नाव के निवासी पं० रामसहाय त्रिपाठी मेदिनीपुर, बंगाल के महिषादल राज्य में नौकरी करते थे। वहीं उनके सुपुत्र सूर्यकांत का जन्म हुआ। राज-दरबार के वातावरण में बालक सूर्यकांत को सभी प्रकार की सुख-सुविधा प्राप्त थी। बंगला से तो उनका घनिष्ठ संपर्क था ही, संस्कृत साहित्य का भी उन्होंने गंभीर अध्ययन किया। पिता की मृत्यु के बाद उन्हें भी उसी राज्य में नौकरी मिल गई थी। परन्तु पत्नी के देहांत के बाद उन्होंने नौकरी छोड़ दी और आर्थिक कष्टों को मानो स्वेच्छा से अपना लिया। कुछ दिनों

वे क्रमशः 'समन्वय' और 'मतवाला' के संपादन-कार्य से कलकत्ता रहे, फिर कुछ समय अपने गाँव और लखनऊ में रहने के बाद अंत में प्रयाग में स्थायी रूप से रहने लगे। इधर अनेक वर्षों से उनका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य उत्तरोत्तर बिगड़ता गया है। निराला जी के प्रसिद्ध कविता-संग्रह 'अनामिका', 'परिमल' और 'गीतिका' हैं। 'परिमल' का प्रकाशन आधुनिक हिंदी काव्य के लिए एक क्रांतिकारी घटना थी। छायावादी काव्य-धारा की उसमें कुछ सर्वश्रेष्ठ कविताएँ हैं। 'गीतिका' गीतियों के कुछ सर्वोत्तम उदाहरण उपस्थित करती है। इतनी निर्दोष गेयता अन्यत्र दुर्लभ है। निराला के काव्य

की प्रौढ़ता अपने चरम रूप में 'तुलसीदास' में प्रकट हुई है, जिसमें उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास के व्यक्तित्व का सुन्दर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रबन्ध काव्य के रूप में किया है। इसके बाद कवि के भाव-जगत् में विशृङ्खलता और व्याकुलता दिखाई देने लगती है। 'कुकुरमुत्ता' की व्यग्यपूर्ण कविताओं में जीवन की कटुता के सकेत हैं तथा 'नए पत्ते' में कुछ ऐसी कविताएँ हैं जिनमें आधुनिक हिंदी कविता के प्रगतिवाद का प्रभाव है। इन कविताओं में कटुता और अविश्वास का गहरा स्वर है। किंतु निराला जी के 'अणिमा' और 'बेला' नामक सबसे बाद के सग्रहों में उनके अत्यत मधुर गीत मिलते हैं।

'समन्वय' के सपादन-काल में निराला जी ने परमहस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानद के नवीन वेदात दर्शन का गहरा अध्ययन और चितन किया था। अत उनकी अनेक प्रारंभिक कविताओं की पृष्ठभूमि धार्मिक और दार्शनिक है तथा उन्होंने प्रेम-विलास के मोहक चित्रों में भी रहस्यात्मक सकेत किए हैं। निरालाजी की रहस्य-भावना व्यक्तिगत प्रेम-विरह की अनुभूति पर आधारित नहीं है, फिर भी शृङ्गारिक वासना-पूर्ण प्रेम के चित्र वे अत्यत यथार्थ और आकर्षक रूप में देते हैं। प्रकृति का चित्रण करने में भी निरालाजी अत्यत सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देते हुए प्राय उस पर मानवीय भावनाओं का आरोप कर देते हैं। निरालाजी की शैली का सबसे प्रधान गुण ओज है। किंतु मधुर और कोमल-कान्त तत्सम शब्दावली का भी उन्होंने प्रचुर प्रयोग किया है। दार्शनिक चितन तथा सस्कृत और बँगला के प्रभाव के कारण कहीं-कहीं उनकी भाषा दुरूह और उनके भाव अस्पष्ट हो गए हैं, फिर भी उनका अर्थ शब्दों की ध्वनि से ही गूजने लगता है। छद-प्रयोग में भी निरालाजी की विविधता और स्वच्छदता अनुपम है। उनके मुक्त छद में भी सगीत की लय निहित रहती है। छायावादी शैली की सभी विशेषताएं उनमें मिलती हैं। उन्होंने इस काव्यधारा का नेतृत्व करने तथा उसे प्रगति देने में अद्वितीय योग दिया है। कविता के अतिरिक्त निरालाजी के आठ उपन्यास, छ कहानी और रेखा-चित्रों के सग्रह, पांच जीवनियाँ तथा एक दर्जन अनुवाद ग्रथ उनकी बहुमुखी प्रतिभा के परिचायक हैं।

ज्येष्ठ

ज्येष्ठ ! क्रूरता-कर्कशता के ज्येष्ठ ! सृष्टि के आदि !
वर्ष के उज्ज्वल प्रथम प्रकाश !
अन्त ! सृष्टि के जीवन हे अन्त ! विश्व के व्याधि !
चराचर के हे हे निर्दय त्रास !
सृष्टि भर के व्याकुल आह्वान !—अचल विश्वास !
सृष्टि भर के शङ्कित अवसान !—दीर्घ निश्वास !
देते हैं हम तुम्हें प्रेम-आमन्त्रण,
आओ जीवन-शमन, बन्धु, जीवन-धन !

घोर-जटा-पिङ्गल मङ्गलमय देव ! योगि-जन-सिद्ध !
धूलि-धूसरित, सदा निष्काम !
उग्र ! लपट यह लू को है या शूल—करोगे बिद्ध
उसे जो करता हो आराम !
बताओ, यह भी कोई रीति ? छोड़ घर-द्वार,
जगाते हो लोगों में भीति,—तीव्र संस्कार !—
या निष्ठुर पीड़न से तुम नव जीवन
भर देते हो, बरसाते हैं तव घन !

तेज: पुञ्ज ! तपस्या की यह ज्योति—प्रलय साकार;
उगलते आग धरा आकाश;
पड़ा चिता पर जलता मृत गत वर्ष प्रसिद्ध असार,
प्रकृति होती है देख निराश !
सुरधुनी में रोदन-ध्वनि दीन,—विकल उच्छ्वास,
दिग्वधू की पिक-वाणी क्षीण—दिगन्त उदास;

देखा जहाँ वहीं है ज्योति तुम्हारी,
सिद्ध ! काँपती है यह माया सारी।

शाम हो गई, फैलाओ वह पीत गेरुआ वस्त्र,
रजोगुण का वह अनुपम राग,
कर्मयोग की विमल पताका और मोह का अस्त्र,
सत्य जीवन के फल का—त्याग।

मृत्यु में, तृष्णा में अभिराम एक उपदेश,
कर्ममय, जटिल, तृप्त, निष्काम; देव, निश्शेष !
तुम हो वज्र-कठोर किन्तु देवव्रत,
होता है संसार अतः मस्तक-नत।

नयन

मद-भरे ये नलिन-नयन मलीन हैं;
अल्प जल में या विकल लघु मीन हैं?
या प्रतीक्षा में किसी की शर्वरी
बीत जाने पर हुए ये दीन हैं?
या पथिक से लोल-लोचन ! कह रहे;
"हम तपस्वी हैं, सभी दुख सह रहे?
गिन रहे दिन ग्रीष्म-वर्षा-शीत के;
काल ताल तरंग में हम बह रहे।
मौन हैं, पर पतन में—उत्थान में,
वेणु-वर-वादन - निरत - विभु गान में
है छिपा जो मर्म उसका, समझते;
किन्तु फिर भी हैं उसी के ध्यान में।
आह ! कितने विकल-जन-मन मिल चुके;
हिल चुके, कितने हृदय हैं खिल चुके।

तप चुके वे प्रिय-व्यथा की आँच में;
दुःख उन अनुरागियों के झिल चुके।
क्यों हमारे ही लिए वे मौन हैं ?
पथिक, वे कोमल-कुसुम हैं—कौन हैं ?"

तरंगों के प्रति

किस अनन्त का नीला अञ्चल हिला-हिलाकर
आती हो तुम सजी मण्डलाकार ?
एक रागिनी में अपना स्वर मिला-मिलाकर
गाती हो ये कैसे गीत उदार ?

सोह रहा है हरा क्षीण कटि में, अम्बर शैवाल,
गाता आप, आप देती सुकुमार करों से ताल।
चचल चरण बढ़ाती हो,
किससे मिलने जाती हो ?

तैर तिमिर-तल भुज-मृणाल से सलिल काटती,
आपस में ही करती हो परिहास,
हो मरोरती गला शिला का कभी डाँटती,
कभी दिखाती जगतीतल को त्रास,
गन्ध-मन्द-गति कभी पवन का मौन-भङ्ग उच्छ्वास,
छाया-शीतल तट तल में आ तकती कभी उदास,
क्यों तुम भाव बदलती हो—
हँसती हो, कर मलती हो ?

बाहें अगणित बढ़ा जा रही हृदय खोलकर,
किसके आलिंगन का है यह साज ?
भाषा में तुम पिरो रही हो शब्द तोल कर,
किसका यह अभिनन्दन होगा आज ?

किसके स्वर में आज मिला दोगी वर्षों का गान,
आज तुम्हारा किस विशाल वक्षस्थल में अवसान ?
आज जहाँ छिप जाओगी,
फिर न हाय तुम गाओगी !
बहती जाती साथ तुम्हारे स्मृतियाँ कितनी,
दग्ध चिता के कितने हाहाकार !
नश्वरता की—थीं सजीव जो—कृतियाँ कितनी,
अबलाओं की कितनी करुण पुकार !
मिलन-मुखर तट की रागिनियों का निर्भय गुञ्जार,
शङ्काकुल कोमल मुख पर व्याकुलता का सञ्चार,
उस असीम में ले जाओ,
मुझे न कुछ तुम दे जाओ !

विधवा

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है।
षड्-ऋतुओं का शृंगार,
कुसुमित कानन में नीरव-पद-संचार,
अमर कल्पना में स्वच्छन्द विहार—
व्यथा की भूली हुई कथा है,
उसका एक स्वप्न अथवा है।
उसके मधु-सुहाग का दर्पण

जिसमें देखा था उसने
बस एक बार बिम्बित अपना जीवन-धन,
अबल हाथों का एक सहारा—
लक्ष्य जीवन का प्यारा—वह ध्रुवतारा—
दूर हुआ वह बहा रहा है
उस अनन्त पथ से करुणा की धारा।

है करुणा-रस से पुलकित इसकी आँखें,
देखा तो भीगीं मन-मधुकर की पाँखें,
मृदु रसावेश में निकला जो गुंजार
वह और न था कुछ था बस हाहाकार!
उस करुणा की सरिता के मलिन पुलिन पर,
लघु टूटी हुई कुटी का मौन बढ़ाकर
अति छिन्न हुए भीगे अंचल में मन को—
दुख-रूखे सूखे अधर-त्रस्त चितवन को
वह दुनिया की नजरों से दूर बचाकर,
रोती है अस्फुट स्वर में,
दुख सुनता है आकाश धीर—
निश्चल समीर,
सरिता की वे लहरें भी ठहर-ठहरकर।
कौन उसको धीरज दे सके?
दुःख का भार कौन ले सके?
यह दुःख वह जिसका नहीं कुछ छोर है,
दैव अत्याचार कैसा घोर और कठोर है
क्या कभी पोंछे किसी के अश्रुजल?
या किया करते रहे सबको विकल?
ओस-कण सा पल्लवों से झर गया
जो अश्रु, भारत का उसी से सर गया।

प्रपात के प्रति

अचल के चंचल क्षुद्र प्रपात !
मचलते हुए निकल आते हो;
उज्ज्वल ! घन-वन-अन्धकार के साथ
खेलते हो क्यों ? क्या पाते हो ?
अन्धकार पर इतना प्यार,
क्या जाने यह बालक का अविचार
बुद्ध का या कि साम्य-व्यवहार !
तुम्हारा करता है गतिरोध
पिता का कोई दूत अबोध—
किसी पत्थर से टकराते हो
फिरकर जरा ठहर जाते हो;
उसे जब लेते हो पहचान—
समझ जाते हो उस जड़ का सारा अज्ञान,
फूट पड़ती है ओठों पर तब मृदु मुसकान:
बस अजान की ओर इशारा करके चल देते हो,
भर जाते हो उसके अन्तर में तुम अपनी तान।

गीत

[१]

देख दिव्य छवि लोचन हारे।
रूप अतन्द्र, चन्द्र मुख, श्रम रुचि,
पलक तरल तम, मृग-दृग-तारे।
द्वेष-दम्भ-दुख पर जय पाकर
खिले सकल नव अङ्ग मनोहर,

चितवन संसृति की सरिता तर
खड़ी स्नेह के सिन्धु-किनारे।
जग के रङ्गमञ्च की सङ्गिनि
अयि परिहास-हास-रस-रङ्गिनि,
उर-मरु-पथ की तरल तरङ्गिनि
दो अपने प्रिय स्नेह-सहारे।

[२]

मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा?
स्तब्ध, दग्ध मेरे मरु का तरु
क्या करुणाकर खिल न सकेगा?
जग के दूषित बीज नष्ट कर,
पुलक-स्पन्द भर खिला स्पष्टतर,
कृपा-समीरण बहने पर, क्या
कठिन हृदय यह हिल न सकेगा?

मेरे दुख का भार, झुक रहा,
इसीलिए प्रति चरण रुक रहा,
स्पर्श तुम्हारा मिलने पर, क्या
महाभार यह झिल ना सकेगा?

[३]

भारति, जय, विजयकरे!
कनक-शस्य कमलधरे।

लङ्का पदतल-शतदल,
गर्जितोर्मि सागर-जल
धोता शुचि चरण युगल
स्तव कर बहु-अर्थ-भरे।

तरु-तृण-वन-लता वसन,
अञ्चल में खचित सुमन,
गङ्गा ज्योतिजल-कण
धवल-धार हार गले।
मुकुट शुभ्र हिम-तुषार,
प्राण प्रणव ओङ्कार,
ध्वनित दिशाएँ उदार,
शतमुख-शतरव-मुखरे।

प्रश्न

(१) प्रकृति के प्रति छायावादी कवियों का क्या दृष्टिकोण है? निराला जी की कविताओं से उदाहरण देकर अपने कथन की पुष्टि कीजिए।

(२) 'नयन' शीर्षक कविता का भावार्थ लिखिए और कवि के संदेश को स्पष्ट कीजिए।

(३) भाषा, छंद-विधान और संगीतात्मकता का उल्लेख करते हुए निराला जी की शैली की विशेषताएँ बताइए।

———

सुमित्रानन्दन पन्त

(जन्म सन् १९०० ई०)

अल्मोड़ा जिले का कौसानी गाँव पंत जी की जन्म-भूमि है। उनके पिता पंडित गंगादत्त पंत वहाँ के जमींदार थे। सुमित्रानंदन अपने पिता की अंतिम संतान हैं। गाँव की पाठशाला के बाद उनकी शिक्षा अल्मोड़ा, काशी और प्रयाग के म्योर कॉलेज में हुई। किंतु उन्होंने बी० ए० की परीक्षा दिए बिना ही पढ़ाई छोड़ दी थी। प्रयाग में रह कर पंत जी को अंग्रेजी और संस्कृत काव्य के अध्ययन का अच्छा अवसर मिला। उन्होंने बंगला साहित्य—विशेष रूप से कविवर रवीन्द्र की रचनाओं का भी अध्ययन किया। पंत जी को साहित्य और संस्कृति से विशेष प्रेम है, अतः प्रयाग ने उन्हें सबसे अधिक आकृष्ट किया है। वहीं से उन्होंने 'रूपाभ' मासिक पत्र का भी प्रकाशन किया था। वे अब भी वहीं रहते हैं।

'वीणा' पंत जी का प्रथम कविता-संग्रह है। उसी से प्रमाणित होता है कि वे भाषा, भाव और छंद-प्रयोग सभी में द्विवेदी-काल के कवियों से सर्वथा भिन्न, एक नए युग के अग्रदूत हैं। 'ग्रंथि' उनका दूसरा प्रकाशन है जिसमें एक छोटी-सी प्रेम-कथा दी गई है। इसके बाद पंत जी ने 'पल्लव' नामक संग्रह की भूमिका में अपने काव्य संबंधी सिद्धांतों और विचारों को प्रकट किया तथा पुरानी, स्थूल वासनापूर्ण एवं प्रचलित द्विवेदी-काल की नीरस गद्यात्मक कविता के प्रति असंतोष और विद्रोह का स्वर ऊँचा किया। 'पल्लव' तक की

कविताओं में पंत जी सुकुमार भावनाओं के, प्रकृति, सौंदर्य और प्रेम के कवि हैं। उनकी दृष्टि में बालकों जैसी जिज्ञासा, उत्सुकता और विस्मय-विमुग्धता है। किन्तु 'पल्लव' के बाद 'गुंजन' की कविताओं में वे अधिक चिन्तनशील और जीवन तथा जगत् की समस्याओं पर गभीरता के साथ विचार करते दिखाई देते हैं। इसके बाद 'युगांत', 'युग-वाणी' और 'ग्राम्या' की कविताओं में वे शोषण, उत्पीडन, विषमता और निर्धनता की समस्याओं में उलझे हुए ग्रामीण जीवन की ओर दृष्टिपात करते हैं तथा उसे अपनी अक्षय सहानुभूति प्रदान करते हैं। किन्तु मार्क्स के साम्यवादी विचारों की ओर झुकते हुए भी वे महात्मा गांधी के सर्वोदयमूलक समाजवाद में ही विश्व का कल्याण मानते हैं। इधर अनेक वर्षों से पंत जी महर्षि अरविन्द के उस तत्वचिन्तन की ओर प्रवृत्त हुए हैं जिसमें मनुष्य की आध्यात्मिक चेतना के विकास को ही भौतिक सुखों का भी आधार माना गया है। 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण-धूलि', 'युग-पथ', 'उत्तरा' और 'अतिमा' की अधिकांश कविताओं में उन्होंने नए युग के स्वप्न संजोए हैं।

उनकी काव्य-शैली भी उनके वर्ण्य-विषय और विचारों के अनुरूप बदली है। छायावाद-काल में उनकी भाषा में अद्भुत कोमलता और मधुरता, उनकी शब्दावली में ध्वनिमूलक व्यंजकता तथा उनके चित्रांकन में रंगमय सकेतात्मकता थी। वे प्रकृति और मानव के रूप-सौंदर्य पर मुग्ध एवं कल्पना की मोहक सृष्टि में तल्लीन, नई शैली के निर्माण—नवीन अलंकार-योजना, और नवीन छन्द-विधान—में प्रवृत्त थे। इसके बाद जब उनके काव्य में कल्पना की रंगीनी कम हुई तब उनकी शैली अधिक व्यावहारिक और कभी-कभी व्याख्यापूर्ण हो गई। इधर उनके चिन्तन की गभीरता और उच्चता के कारण कभी-कभी उनकी शैली में उपदेशात्मकता भी आ गई है। किन्तु जो कविताएँ उन्होंने छोटे-छोटे घटना-प्रसंगों के सहारे लिखी हैं उनमें सरल भाषा-शैली भी अत्यन्त व्यंजक है। कविता के अतिरिक्त पंत जी ने गीति-नाट्य, उपन्यास और कहानियाँ भी लिखी हैं। किन्तु पंत जी की लेखनी अब भी मुख्यतः काव्य-रचना में ही प्रवृत्त है।

परिवर्त्तन

बिना दुख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन-भार;
दीन दुर्बल है रे संसार,
इसी से दया, क्षमा औ' प्यार!

आज का दुख, कल का आह्लाद,
और कल का सुख, आज विषाद;
समस्या स्वप्न गूढ़ संसार,
पूर्ति जिसकी उस पार!
जगत जीवन का अर्थ विकास,
मृत्यु, गति क्रम का ह्रास!

हमारे काम न अपने काम,
नहीं हम, जो हम ज्ञात;
अरे, निज छाया में उपनाम
छिपे हैं हम अपरूप;
गँवाने आये हैं अज्ञात
गँवा कर पाते स्वीय स्वरूप

जगत की सुन्दरता का चाँद
सजा लांछन को भी अवदात,
सुहाता बदल, बदल, दिनरात,
नवलता ही जग का आह्लाद!

नौका-विहार

शांत, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल!
अपलक अनंत, नीरव भूतल!
सैकत शय्या पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म विरल,
लेटी हैं श्रांत, क्लांत निश्चल!
तापस बाला गंगा निर्मल, शशि-मुख से दीपित मृदु करतल,
लहरे उर पर कोमल कुंतल!
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर लहराता तार-तरल सुन्दर
चंचल अंचल सा नीलांबर!
साड़ी की सिकुड़न सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी हैं वर्तुल, मृदुल लहर!

चाँदनी रात का प्रथम प्रहर,
हम चले नाव लेकर सत्वर!
सिकता की सस्मित सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर,
लो, पालें चढ़ीं, उठा लंगर!
मृदु मंद मंद, मंथर मंथर, लघु तरणि, हंसिनी सी सुन्दर
तिर रही, खोल पालों के पर!
निश्चल जल के शुचि दर्पण पर बिम्बित हो रजत पुलिन निर्भर
दुहरे ऊँचे लगते क्षण भर!
कालाकाँकर का राज भवन सोया जल में निश्चिन्त, प्रमन,
पलकों में वैभव-स्वप्न सघन!

* * * *

अब पहुँची चपला बीच धार,
छिप गया चाँदनी का कगार!
दो बाँहों-से दूरस्थ तीर धारा का कृश कोमल शरीर
आलिङ्गन करने को अधीर!

अति दूर, क्षितिज पर विटप माल लगती भ्रू-रेखा सी अराल,
अपलक-नभ नील-नयन विशाल;
मा के उर पर शिशु सा, समीप,सोया धारा में एक द्वीप,
उर्मिल प्रवाह को कर प्रतीप;
वह कौन विहग ? क्या विकल कोक, उड़ता हरने निज विरह शोक ?
छाया की कोकी को विलोक !

पतवार घुमा, अब प्रतनु भार
नौका घूमी विपरीत धार !
डाँड़ों के चल करतल पसार, भर-भर मुक्ताफल फेन-स्फार,
बिखराती जल में तार-हार !
चाँदी के साँपों सी रलमल नाँचतीं रश्मियाँ जल में चल
रेखाओं सी खिच तरल-सरल !
लहरों की लतिकाओं में खिल, सौ सौ शशि,सौ सौ उडु झिलमिल
फैले फूले जल में फेनिल !
अब उथला सरिता का प्रवाह, लग्गी से ले-ले सहज थाह
हम बढ़े घाट को सहोत्साह !

ज्यों ज्यों लगती है नाव पार
उर में आलोकित शत विचार !
इस धारा सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम !
शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत हास
शाश्वत लघु लहरों का विलास !
हे जग-जीवन के कर्णधार ! चिर जन्म-मरण के आर पार
शाश्वत जीवन-नौका विहार !
मैं भूल गया अस्तित्व-ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण
करता मुझको अमरत्व दान !

स्वर्ण शैशव स्वप्नों का जाल,
मंजरित यौवन, सरस रसाल,
प्रौढ़ता, छाया वट सुविशाल,
स्थविरता, नीरव सायंकाल,
वही विस्मय का शिशु नादान
रूप पर मँडरा, बन गुंजार,
प्रणय से बिंध, बँध, चुनचुन सार,
मधुर जीवन का मधु कर पान,
साध अपना मधुमय संसार
डुबा देता निज तन, मन, प्राण!
एक बचपन ही में अनजान
जागते, सोते, हम दिनरात,
वृद्ध बालक फिर एक प्रभात
देखता नव्य स्वप्न अज्ञात;
मूँद प्राचीन मरण,
खोल नूतन जीवन!

विश्वमय हे परिवर्तन!
अतल से उमड़ अकूल, अपार
मेघ से विपुलाकार,
दिशावधि में पल विविध प्रकार,
अतल में मिलते तुम अविकार!
अहे अनिर्वचनीय! रूप धर भव्य, भयंकर,
इन्द्रजाल सा तुम अनन्त में रचते सुन्दर;
गरज,गरज, हँस हँस चढ़ गिर, छा ढा भू अम्बर,
करते जगती को अजस्र जीवन से उर्वर;
अखिल विश्व की आशाओं का इन्द्रचाप वर
अहे तुम्हारी भीम भृकुटि पर
अटका निर्भर!

चिर सुख

कुसुमों के जीवन का पल
हँसता ही जग में देखा,
इन म्लान, मलिन अधरों पर
स्थिर रही न स्मिति की रेखा !

वन की सूनी डाली पर
सीखा कलि ने मुसकाना,
मैं सीख न पाया अब तक
सुख से दुख को अपनाना !

काँटों से कुटिल भरी हो
यह जटिल जगत की डाली,
इसमें ही तो जीवन के
पल्लव की फूटी लाली !

अपनी डाली के काँटे
बेधते नहीं अपना तन,
सोने-सा उज्ज्वल बनने
तपता नित प्राणों का धन !

दुख-दावा से नव अंकुर
पाता जग-जीवन का वन
करुणार्द्र विश्व की गर्जन
बरसाती नव जीवन-कण

श्रद्धा के फूल

हाय, आँसुओं के आँचल से ढँक नव आनन
तू विषाद की शिला बन गई आज अचेतन,
ओ गाँधी की धरे, नहीं क्या तू अकाय-व्रण ?
कौन शस्त्र से भेद सका तेरा अच्छेद्य तन ?
तू अमरों की जनी, मर्त्य भू में भी आकर
रही स्वर्ग से परित्राता, तप पूत निरंतर !
मंगल कलश-से तेरे वक्षोजों में घन
लहराता नित रहा चेतना का चिर यौवन !
कीर्ति स्तंभ-से उठ तेरे कर अमर पट पर
अंकित करते रहे अमिट ज्योतिर्मय अक्षर !

उठ, ओ गीता के अक्षय यौवन की प्रतिमा,
समा सकी कब धरा स्वर्ग में तेरी महिमा !
देख, और भी उच्च हुआ अब भाल हिम शिखर
बाँध रहा तेरे अंचल से भू को सागर !

वह मानव क्या

जिस आत्मा में हो नहीं प्रेम की अमर धार,
वह आत्मा क्या ?
जो काट न सके मृत्यु बंधन !
जिस मन में तप का, मति में प्रतिभा की न धार,
वे मति मन क्या ?
जो कर न सकें सत्यालोचन !
जिन प्राणों में, जीवन में इच्छा की न धार,
वह जीवन क्या ?
जो कर न सके सब समर्पण !

यदि भले बुरे का जगे इन्द्रियों मे विचार,
यदि मन मे छा जाए जीवन का अंधकार,
यदि आत्मा को दे छुआ प्राण वासना उभार,
जीवन निरीह संघर्ष विरत हो, निरुपचार !
तब ये सब क्या ?
इनका न प्रयोजन !...!...यही मरण !
वह मानव क्या ?
जो करे न अमरों सँग विचरण !

अशोक वन में सीता

पंचवटी की स्मृति हो आई !
नील कमल में, नील गगन मे,
नील वदन ही दिए दिखाई
सन्ध्या की आभा मे मोहन
पंचवटी उठ आई गोपन,
झूली सम्मुख, प्रिय सँग चौदह
वरसों की स्वर्णिम परछाँई !

कौन रहा वह सोने का मृग
जिसने मोह लिए मेरे दृग ?
जगी चेतना थी केवल, मैं
मन से राम न थी वन पाई !
भू संस्कार पुराने घेरे
उपचेतन मन को थे मेरे,
भू के गत जीवन की छाया
मन में थी प्रच्छन्न समाई !

विषय मोह मिस चेतन में जग
होना था मन से उसे विलग,
माया, मृग वन वह मरीचिका
उसी सोने का तन, धर लाई!

* * * *

जग जीवन सीता की काया,
जन मन से थी लिपटी छाया,
गत युग की लंका में उसने,
कर प्रवेश, नव ज्वाल लगाई!

ज्ञात भूमिजा को भू गाथा,
वह तापसी हरेगी बाधा,
आज हृदय स्पंदन में उसके
प्रभु ने जय दुदुभी बजाई!

प्रश्न

(१) स्वपठित कविताओं के आधार पर पंत जी द्वारा स्वीकृत मनुष्य-जीवन के आदर्शों की व्याख्या कीजिए।

(२) 'अशोक वन में सीता' शीर्षक कविता का गूढ़ाशय विस्तृत रूप में स्पष्ट कीजिए।

(३) छायावादी काव्य की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए और पंत जी की कविताओं से उनके उदाहरण दीजिए।

महादेवी वर्मा

(जन्म सन् १६०७ ई०)

महादेवी जी का जन्म-स्थान फर्रुखाबाद है। उनके पिता श्री गोविंद प्रसाद वर्मा एम० ए०, एल-एल० बी०, भागलपुर में हेडमास्टर थे। उनकी माता श्रीमती हेमरानी देवी भी सुशिक्षित और भक्त-हृदय महिला थीं। प्रयाग विश्व-विद्यालय से संस्कृत में एम० ए० करने के बाद महादेवी जी ने महिला विद्यापीठ में प्रिंसिपल का पद स्वीकार कर लिया। विचारों में महादेवी जी राष्ट्र-पिता महात्मा गाँधी से प्रभावित हुई हैं और राष्ट्रीय सेवा के कार्यों में उन्होंने सदैव योग दिया है। सरकारी क्षेत्र में भी उन्हें मान्यता प्राप्त हुई है। वे उत्तर प्रदेश विधान-परिषद् की सम्मानित सदस्या हैं।

जब महादेवी जी की प्रारंभिक कविताएँ 'चाँद' में प्रकाशित होती थीं, उसी समय हिंदी जगत् ने उनका आश्चर्य-पूर्ण हर्ष के साथ स्वागत किया था। उनके भाव अत्यंत परिपक्व और उत्कृष्ट थे तथा भाषा और शैली परिमार्जित एवं संयमित थी। 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सांध्यगीत' तथा 'दीपशिखा' नाम से उनकी कविताएँ संगृहीत हुई हैं। प्रथम चार पुस्तकें सम्मिलित रूप में 'यामा' नाम से भी प्रकाशित की गई हैं। 'यामा' और 'दीपशिखा', दोनों में कविताओं के भाव रेखा और रंग में भी चित्रित किए गए हैं। महादेवी जी सुन्दर चित्रकार भी हैं। उन्होंने गद्य में रेखाचित्र, निबंध तथा आलो-चनात्मक लेख भी लिखे हैं, जिसके आधार पर वे गद्य की सफल शैलीकार मानी गई हैं।

महादेवी वर्मा की कविताओं में विरह की अनुभूति ही विशेष है। उनकी भावना के अनुसार जीवन ही विरह है, उसका प्रति पल अश्रुमय है। विरह की

मिटनेवालों को है निष्ठुर!
बेसुध रँगरलियाँ देखो।
मेरे गीले पलक छुओ मत
मुर्झाई कलियाँ देखो!

गल जाता लघु बीज असंख्यक नश्वर बीज बनाने को;
तजता पल्लव वृन्त पतन के हेतु नये विकसाने को;
मिटता लघु पल प्रिय देखो कितने युग कल्प मिटाने को;
भूल गया जग भूल विपुल भूलोंमय सृष्टि रचाने को,
मेरे बन्धन आज नहीं प्रिय,
संसृति की कड़ियाँ देखो!
मेरे गीले पलक छुओ मत
मुर्झाई कलियाँ देखो!

श्वासें कहतीं 'आता प्रिय' निश्वास बताते वह जाता;
आँखों ने समझा अनजाना उर कहता चिर यह नाता;
सुधि ने सुन 'वह स्वप्न सजीला क्षण-क्षण नूतन बन आता',
दुख उलझन में राह न पाता सुख दृगजल में बह जाता,
मुझमें हो तो आज तुम्हीं 'मैं',
बन दुख की घड़ियाँ देखो!
मेरे गीले पलक छुओ मत
बिखरी पखुरियाँ देखो!

[२]

विरह की घड़ियाँ हुईं अलि मधुर मधु की यामिनी सी!
दूर के नक्षत्र लगते पुतलियों से पास, प्रियतर;
शून्य नभ की मूकता में गूँजता आह्वान का स्वर;
आज है निःसीमता
लघु प्राण की अनुगामिनी सी!

एक स्पन्दन कह रहा है अकथ युग-युग की कहानी;
हो गया स्मित से मधुर इन लोचनों का क्षार पानी;
मूक प्रतिनिश्वास है
नव स्वप्न की अनुरागिनी सी !

सजनि ! अन्तर्हित हुआ है 'आज' में धुँधला विफल 'कल',
हो गया है मिलन एकाकार मेरे विरह में मिल;
राह मेरी देखती
स्मृति अब निराश पुजारिनी सी !

फैलते हैं सान्ध्य नभ में भाव ही मेरे रँगीले;
तिमिर की दीपावली हैं रोम मेरे पुलक-गीले,
बन्दिनी बनकर हुई
मैं बन्धनों की स्वामिनी सी !

[४

सखि मैं हूँ अमर सुहाग भरी !
प्रिय के अनन्त अनुराग भरी !
किसको त्यागूँ किसको माँगूँ;
है एक मुझे मधुमय विषमय;
मेरे पद छूते ही होते,
काँटे कलियाँ प्रस्तर रसमय !

पालूँ जग का अभिशाप कहाँ
प्रतिरोमों में पुलकें लहरीं !
जिसको पथ शूलों का भय हो,
वह खोजे नित निर्जन गह्वर;

पीड़ा उन्हें अत्यंत प्रिय है। वे उसके बदले में मिलन को तुच्छ मानती हैं। मिलन की आकांक्षा और उसके लिए सतत प्रयास ही जीवन को सार्थक बनाते हैं। अत यह विरह की पीड़ा करुण होते हुए भी उल्लास और मादकता से पूर्ण है। उसमें निराशा नहीं है। किंतु महादेवी जी ने प्रेम का उल्लास मिलन की उत्सुकता और आशामय उत्फुल्लता तक ही सीमित रखा है, मिलन का विलास उसे छू भी नहीं पाता। अतः उनका प्रेम वासना से सर्वथा अस ्क्त रहता है। वह इंद्रियों के आकर्षण से प्रारंभ हो कर तुरन्त आध्यात्मिक स्तर पर पहुँच जाता है। महादेवी जी ने भावों की अभिव्यक्ति छायावादी कवियों की भाँति प्रकृति के मनोरम दृश्यों के माध्यम से की है। उन्हीं में अधिकतर वे अज्ञात और अनंत की झाँकी देखती हैं। इसीलिए वे प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करने को उत्सुक रहती हैं। उन्होंने स्वप्न-मिलन के संकेत भी किए हैं और इस प्रकार उनका प्रेम रहस्यवाद का प्रेम हो गया है।

जिस समय महादेवी जी ने काव्य-क्षेत्र में प्रवेश किया, काव्य की भाषा और शैली पर्याप्त स्थिर और परिमार्जित हो चुकी थी। किंतु महादेवी जी ने छायावादी भाषा और शैली को अभूतपूर्व परिष्कार और प्रौढ़ता प्रदान की तथा ऐसे नवीन विधान और प्रयोग किए जिनका अन्य कवियों ने खूब अनुकरण किया। प्रसाद, निराला और पंत के बाद महादेवी जी ने उस नई काव्य-धारा को विकसित करने में सर्वाधिक योग दिया है। उनके गीतों में गीति-काव्य के संपूर्ण लक्षण मिलते हैं। उनकी विरह-भावना में मीरा जैसा प्रभाव है।

———

[१]

जो तुम आ जाते एक बार!
कितनी करुणा कितने संदेश
पथ में बिछ जाते बन पराग,
गाता प्राणों का तार तार
अनुराग भरा उन्माद राग;
आँसू लेते वे पद पखार!

हँस उठते पल में आर्द्र नयन
धुल जाता ओठों से विषाद,
छा जाता जीवन में वसन्त
लुट जाता चिर सञ्चित विराग;
आँखें देतीं सर्वस्व वार!

[२]

मेरे हँसते अधर नहीं जग—
की आँसू लड़ियाँ देखो!
मेरे गीले पलक छुओ मत
मुर्झाई कलियाँ देखो!

हँस देता नव इन्द्रधनुष की स्मित में घन मिटता मिटता;
रँग जाता है विश्व राग से निष्फल दिन ढलता ढलता;
कर जाता संसार सुरभिमय एक सुमन झरता झरता;
भर जाता आलोक तिमिर में लघु दीपक बुझता बुझता;

प्रिय के संदेशों के ग्राहक,
मैं सुख दुख भेटूँगी भुजभर,
मेरी लघु पलकों से छलकी
इस कण-कण में ममता बिखरी!

अरुणा ने यह सीमन्त भरी,
सन्ध्या ने दी पग में लाली;
मेरे अङ्गों का आलेपन—
करती राका रच दीवाली,
जग के दागों को धो धो कर
होती मेरी छाया गहरी!

पद के निक्षेपों से रज में—
नभ का वह छाया-पथ उतरा,
श्वासों से घिर आती बदली
चितवन करती पतझार हरा!
जब मैं मरु में भरने लाती
दुख से, रीती जीवन-गगरी!

[४]

पथ रहने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला!

घेर ले छाया अमा बन,
आज कज्जल अश्रुओं में रिमझिमा ले यह घिरा घन
और होंगे नयन सूखे,
तिल बुझे औ' पलक रूखे,
आर्द्र चितवन में यहाँ
शत विद्युतों में दीप खेला!

अन्य होंगे चरण हारे,
और हैं जो लौटते, दे शूल को संकल्प सारे,
दुखव्रती निर्माण-उन्मद,
यह अमरता नापते पद,
बाँध देंगे अंक संसृति—
से तिमिर में स्वर्ण-वेला!

दूसरी होगी कहानी,
शून्य में जिसके मिटे स्वर, धूल में खोई निशानी,
आज जिस पर प्रलय विस्मित
मैं लगाती चल रही नित,
मोतियों की हाट औ'
चिनगारियों का एक मेला!

हास का मधु दूत भेजो,
रोष की भ्रूभंगिमा पतझार को चाहे सहेजो!
ले मिलेगा उर अचंचल,
वेदना-जल, स्वप्न शतदल,
जान लो वह मिलन-एकाकी
विरह में है दुकेला!

[६]

घिरती रहे रात!
न पथ रूँधतीं ये
गहन तम शिलायें;
न गति रोक पातीं
पिघल मिल दिशायें,
चली मुक्त मैं ज्यों मलय की मधुर वात

न आँसू गिने औ,
न काँटे सँजोये;
न पगचाप दिग्भ्रान्त
उच्छ्वास खोये;
मुझे भेंटता हर पलक-पात में प्रात!

नयन-ज्योति वह
यह हृदय का सवेरा,
अतुल सत्य प्रिय का,
लहर स्वप्न मेरा,
कही चिर विरह ने मिलन की नई बात!

स्वजन! स्वर्ण कैसा
न जो ज्वाल-धोया?
हँसा कब तड़ित् म
न जो मेघ रोया?
लिया साधने तोल अङ्गार-लघात!
जले दीप को
फूल का प्राण दे दो,
शिखा लय भरी,
साँस को दान दे दो!
खिले अग्नि पथ म सजल मुक्ति जलजात!

प्रश्न

(१) महादेवी वमा के काव्य में किस भाव की प्रधानता है? क्या उन्हें निराशावादी कवि कहा जा सकता है?

(२) महादेवी वमा के काव्य का भाषा, शैली और संगीतात्मकता की समीक्षा कीजिए।

रामधारी सिंह 'दिनकर'

(जन्म सन् १६१८ ई०)

विहार राज्य में मुंगेर जिले का सिमरिया गाँव दिनकर जी की जन्म-भूमि है। उन्होंने बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की और हिन्दी और अंग्रेजी के अतिरिक्त उर्दू, संस्कृत और बंगला का भी अच्छा अध्ययन किया। बी० ए० करने के बाद उन्होंने सरकारी नौकरी कर ली थी, किन्तु उनकी वास्तविक रुचि साहित्य में ही रही है और वही उनके जीवन का प्रधान क्षेत्र है। कई वर्षों से उनका जीवन पूर्णतया साहित्यिक और सार्वजनिक हो गया है। वे भारतीय संसद के सदस्य भी हैं।

दिनकर जी का प्रथम कविता-संग्रह 'रेणुका' है, जिससे हिन्दी-जगत उनकी ओर आकृष्ट हुआ और उनकी उदीयमान प्रतिभा काव्य की नई भूमियों का उद्घाटन करती देखी गई। हिन्दी कविता को गगन-विहारी छायावाद के कुहासे से निकाल कर भूमि पर उतारने वाली तरुण प्रतिभाओं में दिनकर जी अन्यतम मान गए हैं। उन्होंने प्रारंभ से ही कवियों को जनता जनार्दन की ओर मुड़ने, गाँवों की झोंपड़ियों के सुख-दुःख को आँकने तथा वहीं चारों ओर फैली हुई भाव-संपत्ति को बटोरने के लिए पुकारा था। भारत के अतीत गौरव की स्मृति से द्रवित, राष्ट्रीय आंदोलनों से अनुप्राणित तथा महात्मा बुद्ध और राष्ट्र पिता बापू के विश्व मैत्री के अमर संदेश से प्रभावित होकर दिनकर जी ने हिंदी की नवीन राष्ट्रीय काव्य धारा का नेतृत्व किया है।

हिंदी साहित्य में जब 'प्रगतिवाद' का आंदोलन चला तब दिनकर जी भी उस ओर खिंच गए। उनके दो ग्रन्थ, सग्रहों 'हुंकार' और 'सामधेनी' की अधिकांश कविताओं में सामाजिक क्रांति का आह्वान और घोषणा है। किंतु दिनकर जी का प्रगतिवाद साम्यवाद की साम्प्रदायिक सीमा में संकुचित नहीं रहा। उसकी प्रतिष्ठा व्यापक मानवता के सिद्धांतों पर हुई है। दिनकर जी की कुछ रचनाओं में विचार और चिंतन भी है। 'द्वन्द्वगीत' में यह प्रवृत्ति उभर कर सामने आई है। अपने महाकाव्य 'कुरुक्षेत्र' में पुनः वे दार्शनिक के रूप में विश्व महायुद्धों से उत्पन्न जीवन की समस्याओं पर विचार करते हुए मनुष्य के कर्त्तव्य और उसके जीवन के उद्देश्य की खोज करते हैं। कुरुक्षेत्र की कथा अत्यंत प्राचीन है, किंतु वह तो उपलक्षण मात्र है। यह अवश्य है कि हिंसा और अहिंसा के द्वन्द्व को लेकर दिनकर जी ने जो समाधान उपस्थित किया है वह सामयिक उपयोगिता-जन्य लगता है। दिनकर जी ने अपनी 'बापू' नामक छोटी-सी कृति में राष्ट्र-पिता के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पित की है। उपर्युक्त कविता-सग्रहों के अतिरिक्त दिनकर जी के 'रसवंती', 'धूप छांह', 'दिल्ली' 'नीम के पत्ते' और 'नील कुसुम' नामक सग्रह और हैं। 'रश्मिरथी' उनका नया काव्य है।

दिनकर जी की कविता में ओज और प्रसाद गुणों की प्रधानता है। भावों का शक्तिशाली रूप में व्यक्त करने के लिए व शब्दों के प्रयोग में प्राय सावधान और सतर्क नहीं रहते और कभी-कभी चिन्त्य प्रयोग भी कर जाते हैं। निश्चय ही वे शब्द शिल्पी नहीं हैं तथा शब्दों की ध्वन्यात्मकता की चिंता नहीं करते। फिर भी उनकी शैली में सरलता, प्रवाह और प्रभावोत्पादकता है, जो उनके शक्तिशाली व्यक्तित्व की व्यंजना करती है। 'रसवंती' की लगभग समस्त तथा 'रेणुका' की कुछ कविताओं में दिनकर जी ने सुकुमार भावों की मृदुल और मधुर शैली में भी अभिव्यक्ति की है। किंतु यहां भी वे जन साधारण की भावना के ही निकट रहे हैं। भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से दिनकर जी जनता के राष्ट्र-कवि हैं।

किसको नमन करूँ मैं ?
तुझको या तेरे नदीश, गिरि, वन को नमन करूँ मैं ?
मेरे प्यारे देश ! देह या मन को नमन करूँ मैं ?
किसको नमन करूँ मैं भारत ! किसको नमन करूँ मैं ?

भू के मान-चित्र पर अंकित त्रिभुज, यही क्या तू है ?
नर के नभश्चरण की दृढ़ कल्पना नहीं क्या तू है ;
भेदों का ज्ञाता, निगूढ़ताओं का चिर ज्ञानी है !
मेरे प्यारे देश ! नहीं तू पत्थर है, पानी है।
जड़ताओं मे छिपे किसी चेतन को नमन करूँ मैं ?
किसको नमन करूँ मैं भारत ! किसको नमन करूँ मैं ?

तू वह, नर ने जिसे बहुत ऊँचा चढ़कर पाया था ;
तू वह, जो सन्देश-भूमि को अम्बर से आया था।
तू वह, जिसका ध्यान आज भी मन सुरभित करता है ;
थकी हुई आत्मा मे उड़ने की उमंग भरता है।
गन्ध निकेतन इस अदृश्य उपवन को नमन करूँ मैं ?
किसको नमन करूँ मैं भारत ! किसको नमन करूँ मैं ?

वहाँ नहीं तू जहाँ जनों से ही मनुजों को भय है ;
सबको सबसे त्रास सदा सब पर सबका संशय है।
जहाँ स्नेह के सहज स्रोत से हटे हुए जनगण हैं,
झंडों या नारों के नीचे बटे हुए जनगण हैं।
कैसे इस कुत्सित, विभक्त जीवन को नमन करूँ मैं ?
किसको नमन करूँ मैं भारत ! किसको नमन करूँ मैं ?

तू तो वह लोक जहाँ उन्मुक्त मनुज का मन है;
समरसता को लिये प्रवाहित शीत-स्निग्ध जीवन है।
जहाँ पहुँच मानते नहीं नर-नारी दिग्बन्धन को;
आत्म रूप देखते प्रेम में भरकर निखिल भुवन को।
कहीं खोज इन रुचिर स्वप्न पावन को नमन करूँ मैं?
किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?

भारत नहीं स्थान का वाचक, गुण विशेष नर का है,
एक देश का नहीं, शील यह भूमडल भर का है।
जहाँ कहीं एकता अखंडित, जहाँ प्रेम का स्वर है,
देश देश में वहाँ खड़ा भारत जीवित भास्वर है।
निखिल विश्व को जन्मभूमि-वन्दन को नमन करूँ मैं?
किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?

खंडित है यह मही शैल से, सरिता से, सागर से;
पर, जब भी दो हाथ निकल मिलते आ द्वीपान्तर से,
तब खाई को पाट शून्य में महा मोद मचता है;
दो द्वीपों के बीच सेतु यह भारत ही रचता है।
मंगलमय इस महासेतु बन्धन को नमन करूँ मैं।
किसको नमन करूँ मैं भारत? किसको नमन करूँ मैं?

दो हृदयों के तार जहाँ भी जो जन जोड़ रहे हैं,
मित्र भाव की ओर विश्व की गति को मोड़ रहे हैं।
घोल रहे हैं जो जीवन-सरिता में प्रेम रसायन,
खोल रहे हैं देश-देश के बीच मुँदे वातायन।
आत्मबन्धु कह कर ऐसे जन-जन को नमन करूँ मैं।
किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?

उठे जहाँ भी घोष शांति का, भारत, स्वर तेरा है,
धर्मदीप हो जिसके भी कर में वह नर तेरा है।
तेरा है वह वीर, सत्य पर जो अड़ने जाता है,
किसी न्याय के लिए प्राण अर्पित करने जाता है।

मानवता के इस ललाट-चन्दन को नमन करूँ मैं।
किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?

कत्तिन का गीत

कात रही सोने का गुन चाँदनी रूप-रस-बोरी;
कात रही रुपहरे धाग दिनमणि की किरण किशोरी।
घन का चरखा चला इन्द्र करते नव जीवन-दान;
तार-तार पर मैं काता करती इज्जत-सम्मान।
हरी डार पर श्वेत फूल; यह तूल-वृक्ष मन भाया;
श्याम हिन्द हिम-मुकुट-विमंडित खेतों में मुसकाया।
श्वेत कमल-सी रूई मेरी; मैं कमला महरानी;
कात रही किस्मत स्वदेश की क्षीरोदधि की रानी।
यह घर्घर का नाद, कि चरखे की बुलबुल की लय है?
यह रूई की तार, कि फूटा जग-जननी का पय है?
धाग-धाग में निहित निःस्व, रिक्तों का धन संचय है;
तार-तार पर चढ़ कर चलती कोटि-कोटि की जय है।
बोल काठ की बुलबुल, मुँह का कौर न रहे अलोना;
सैदिन पर बह जाय नहीं पानी-सा चाँदी-सोना।
एक तार भी कात सुहागिन, यह भी नहीं अकाज;
स्यात्, छिपा दे यही नग्न के किसी रोम की लाज।
मधुर चरखे का घर्घर गान;
देश का धाग-धाग कल्याण।

रात यों कहने लगा मुझसे गगन का चाँद,
आदमी भी क्या अनोखा जीव होता है।
उलझनें अपनी बनाकर आप ही फँसता,
और फिर बेचैन हो जगता, न सोता है।
जानता है तू कि मैं कितना पुराना हूँ?

मैं चुका हूँ देख मनु को जनमते-मरते,
और लाखों बार तुझ-से पागलों को भी
चाँदनी में बैठ स्वप्नों पर सही करते।
आदमी का स्वप्न? है वह बुलबुला जल का,
आज उठता और कल फिर फूट जाता है;
किन्तु, फिर भी धन्य; ठहरा आदमी ही तो?
बुलबुलों से खेलता, कविता बनाता है।
मैं न बोला, किंतु मेरी रागिनी बोली,
देख फिर से, चाँद! मुझको जानता है तू?
स्वप्न मेरे बुलबुले हैं? है यही पानी?
आग को भी क्या नहीं पहचानता है तू?
मैं न वह जो स्वप्न पर केवल सही करते,
आग में उसको गला लोहा बनाती हूँ,
और उस पर नींव रखती हूँ नये घर की,
इस तरह दीवार फौलादी उठाती हूँ।
मनु नहीं, मनु-पुत्र है यह सामने, जिसकी
कल्पना की जीभ में भी धार होती है,
बाण ही होते विचारों के नहीं केवल,
स्वप्न के भी हाथ में तलवार होती है।
स्वर्ग के सम्राट को जाकर खबर कर दे,
"रोज ही आकाश चढ़ते जा रहे हैं वे,
रोकिए, जैसे बने इन स्वप्नवालों को,
स्वर्ग की ही ओर बढ़ते आ रहे हैं वे।"

कविता का हठ

"बिखरी लट, आँसू छलके, यह सस्मित मुख क्यों दीन हुआ?
कविते! कह, क्यों सुषमाओं का विश्व आज श्री हीन हुआ?

सन्ध्या उतर पड़ी उपवन में ? दिन आलोक मलीन हुआ ?
किस छाया में छिपी विभा ? शृङ्गार किधर उड्डीन हुआ ?
इस अविकच यौवन पर रूपसि, बता रनेत सारी कैसी ?

आज असंग चिता पर सोने की यह तैयारी कैसी ?
आँखों में जलधार, हिचकियों-पर-हिचकी जारी कैसी ?
अरी बोल, तुझ पर विपत्ति आई यह सुकुमारी ! कैसी ?

यों कहते-कहते मैं रोया, रुद्ध हुई मेरी वाणी,
ढार मार रो पड़ी लिपट कर मुझसे कविता कल्याणी—
"मेरे कवि ! मेरे सुहाग ! मेरे राजा ! किस ओर चले ?
चार दिनों का नेह लगा रे छली ! आज क्यों छोड़ चले ?

"वन फूलों से घिरी कुटी क्यों आज नहीं मन को भाती ?
राज वाटिका देख तुम्हारी दृष्टि हाय, क्यों ललचाती ?
"करुणा की मैं सुता विना पतझड़ कैसे जी पाऊंगी ?
करि ! वसन्त मत बुला, हाय, मैं विभा-बीच खो जाऊँगी,

"खंडहर की मैं दीन-भिखारिन, अट्टालिका नहीं लूँगी,
है सौगन्ध, तुम्हारे सिर पर रखने मुकुट नहीं दूँगी।
"तुम जाओगे उधर, इधर मैं रो रो दिवस बिताऊँगी,
खडहर में, नीरव निशीथ में रोऊँगी, चिल्लाऊँगी।

"व्योम-कुञ्ज की सखी कल्पना उतर सकेगी धूलों में !
नरगिस के प्रेमी कवि ढूंढ़ेंगे मुझको वन फूलों में !
हँस-हँस कलम-नोक से चुन रजकण से कौन उठायेगा ?
ठुकरायी करुणा का कण हूँ, दिल में कौन बिठायेगा ?
"जीवन रस पीने को देगा ऐसा कौन यहाँ दानी ?
उर की दिव्य व्यथा कह अपनायेगी दुनिया दीवानी ?
"गौरव के भग्नावशेष पर जब मैं अश्रु बहाऊंगी,
कौन अश्रु पोंछेगा, पल भर कहाँ शांति मैं पाऊँगी ?

"किसके साथ कहो खेलूँगी दूबों की हरियाली में ?
कौन साथ मिलकर रोयेगा नालन्दा वैशाली में ?
"कुसुम पहन मैं लिये विपचो घूमूँगी यमुना-तीरे,
किन्तु कौन अंचल भर देगा चुन-चुन धूल भरे हीरे ?
"तेरे कण्ठ-बीच कवि ! मैं वनकर युगधर्म पुकार चुकी,
प्रकृति-पक्ष ले रक्त-शोषिणी, संस्कृत को ललकार चुकी,
"वार चुकी युग पर तन-मन धन, अपना लक्ष्य विचार चुकी
कवे ! तुम्हारे महायज्ञ का साकल कर तैयार चुकी।
"उठा, अमर तूलिका, स्वर्ग का भू पर चित्र बनाऊँगी,
श्रमापूर्ण जग के आँगन में आज चन्द्रिका लाऊँगी।
"रुला रुला आँसू में धो जगती की मैल बहाऊँगी,
अपनी दिव्य शक्ति का परिचय भूतल को बतलाऊँगी !
"तू सन्देश वहन कर मेरा, महागान मैं गाऊँगी,
एक विश्व के लिए लाख स्वर्गों को मैं ललचाऊँगी।"
"ढोऊँगी मैं सुयश तुम्हारा, बन नवीन युग की वाणी,
ग्लानि न कर, सहचरी तुम्हारी हूँ मैं भावों की रानी।"

प्रश्न

(१) हिंदी की राष्ट्रीय काव्य धारा में दिनकर का क्या स्थान है ?

(२) दिनकर के विचार से काव्य का क्या आदर्श है ? यह आदर्श उनकी रचना पर कहाँ तक घटित होता है ?

———

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

(जन्म सन् १९११ ई०)

अज्ञेय जी का जन्म गोरखपुर जिले के कसिया गाँव में हुआ था। वे स्वभाव से भ्रमणशील और प्रवास प्रिय हैं। उन्होने देश-विदेश की यात्रा

करके अपने बाह्य अनुभव को खूब बढ़ाया है। इसी प्रकार देश-विदेश के प्राचीन तथा आधुनिकतम साहित्य का विस्तृत अध्ययन करके उन्होने अपने ज्ञान का भी प्रचुर विस्तार किया है। विज्ञान के क्षेत्र मे उच्च कार्य करने के उद्देश्य से उन्होने एम० एस-सी० पास किया था, किन्तु उनकी प्रवृत्ति और अभिरुचि ने उन्हें साहित्य का स्रष्टा बना दिया। कुछ दिनो तक उन्होने 'विशाल भारत' और 'प्रतीक' नामक पत्रिका का सपादन भी किया है।

अज्ञेय जी के अब तक सात कविता-सग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनमें 'भग्नदूत' 'चिंता' 'इत्यलम्' 'हरी घास पर क्षण भर' तथा 'बावरा अहेरी' प्रसिद्ध हैं। हिन्दी के अतिरिक्त अज्ञेय जी ने अग्रेजी में भी काव्य-रचना की है। इस प्रकार स्वय तो उन्होने प्रचुर काव्य-रचना की ही है, हिन्दी काव्य की नवीनतम प्रवृत्तियो के आकलन, विकास और उन्नयन का सबसे अधिक श्रेय भी उनको है। 'तारसप्तक' तथा 'दूसरा सप्तक' में हिन्दी के नवोदित कवियो की रचनाओं के सकलन और विवेचन के द्वारा उन्होने हिन्दी कविता के नवोदय का नेतृत्व किया है। काव्य में 'प्रयोगवाद' की चर्चा 'तारसप्तक'

के प्रकाशन के बाद ही अधिक हुई। कविता के अतिरिक्त अज्ञेय जी ने कहानी, उपन्यास, यात्रा-साहित्य और निबंधों की भी रचना की है।

अज्ञेय जी की प्रारंभिक कविताओं में युवकोचित क्रांतिकारी भाव छायावादी काव्य-शैली में ही व्यक्त हुए थे। परंतु ज्यों-ज्यों विश्व-साहित्य की नई-नई प्रवृत्तियों से उनका परिचय होता गया, त्यों-त्यों वे अपनी अनुभूति को ठीक-ठीक व्यक्त करने वाली शैली के नए-नए प्रयोगों की खोज करते गए। किन्तु अज्ञेय जी की कविता केवल मात्र शैली का प्रयोग नहीं है। यदि उसे प्रयोग ही कहा जाए तो वह हृदय और मस्तिष्क की गहराई में प्रवेश करके अनुभूत भावों को ग्रहण करने का प्रयोग अधिक है। इस प्रयत्न के कारण उसमें भावावेश के स्थान पर चिंतन-शीलता अधिक मिलती है। इसी को कुछ लोग बौद्धिकता कह कर लांछित करते हैं। अज्ञेय जी की कविता के दुःखवाद और मानसिक यातना के प्रति उनकी आसक्ति की भी कुछ लोग आलोचना करते हैं। किन्तु वस्तुतः वे पीड़ा, दुःख और यातना का वरण इसलिए करते हैं कि उससे हृदय को संपन्नता और निर्मलता प्राप्त होती है। अज्ञेय जी स्वभाव से मितभाषी तथा आत्मलीन रहने वाले व्यक्ति हैं। इसका उनकी कला पर भी प्रभाव पड़ा है जिससे उन्हें प्रायः व्यक्तिवादी समझा गया है। परन्तु उनमें संकुचित स्वार्थमय व्यक्तिवाद नहीं, वरन् आत्मानुभूति और आत्मविश्लेषण है। वे समाज के लिए व्यक्ति को मिटाने के समर्थक नहीं हैं, व्यक्ति को समाज पर समर्पित हो जाने की प्रेरणा देते हैं।

अज्ञेय जी की भाषा-शैली उनके भाव और विचार का अनुसरण करती है। छायावादी शैली को अनुपयुक्त समझ कर उन्होंने नए-नए शब्द-विधान तथा प्रतीकों के प्रयोग किए हैं। शैली की यह नवीनता कभी-कभी उनकी रचना को दुरूह बना देती है। इसी प्रकार छन्दों के प्रयोग में भी अज्ञेय जी गद्य की सीमा पर पहुँच जाते हैं। परन्तु उनकी रचनाओं में सामान्यता और हलकापन कभी नहीं रहता। उनका कोई न कोई गूढ़ आशय अवश्य होता है। अज्ञेय जी की रचना उनके शिष्ट और सुसंस्कृत व्यक्तित्व का परिचय देती है।

हिन्दी कविता के भविष्य का अनुमान करने के लिए अज्ञेय जी की रचना महत्त्वपूर्ण है।

उड़ चल, हारिल—

उड़ चल, हारिल, लिए हाथ मे
यही अकेला ओछा तिनका—
ऊषा जाग उठी प्राची मे
कैसी वाट, भरोसा किनका !

शक्ति रहे तेरे हाथों में—
छुट न जाय यह चाह सृजन की
शक्ति रहे तेरे हाथों में—
रुक न जाय यह गति जीवन की

ऊपर ऊपर ऊपर ऊपर
बढ़ा चीरता चल दिङ्मंडल
अनथक पंखों की चोटों से
नभ में एक मचा दे हलचल !

तिनका ? तेरे हाथों मे है
अमर एक रचना का साधन—
तिनका ? तेरे पंजे मे है
विधना के प्राणों का स्पन्दन !

काँप न, यद्यपि दसों दिशा मे
तुझे शून्य नभ घेर रहा है,
रुक न, यद्यपि उपहास जगत का
तुझको पथ से हेर रहा है ;

तू मिट्टी था किन्तु आज
मिट्टी को तूने बाँध लिया है
तू था सृष्टि, किन्तु स्रष्टा का
गुर तूने पहचान लिया है !

मिट्टी निश्चय है यथार्थ, पर
क्या जीवन केवल मिट्टी है ?
तू मिट्टी, पर मिट्टी से उठने
की इच्छा किसने दी है ?

आज उसी ऊर्ध्वग ज्वाल का
तू है दुर्निवार हरकारा ।
दृढ़ ध्वज दंड बना यह तिनका
सूने पथ का एक सहारा ।

मिट्टी से जो छीन लिया है
वह तज देना धर्म नहीं है
जीवन साधन की अवहेला
कर्मवीर का कर्म नहीं है!

तिनका पथ की धूल, स्वयं तू ऊषा जाग उठी प्राची में—
है अनन्त की पावन धूली— आवाहन यह नूतन दिन का—
किन्तु आज तूने नभ-पथ में उड़ चल, हारिल, लिए हाथ में
क्षण में बद्ध अमरता छू ली! एक अकेला पावन तिनका।

बावरा अहेरी

भोर का बावरा अहेरी
पहले बिछाता है आलोक की
लाल-लाल कनियाँ
पर जब खींचता है जाल को
बाँध लेता है सभी को साथ;
छोटी छोटी चिड़ियाँ
मझोले परेवे
बड़-बड़े पंखी
डैनों वाले डील वाले
डौल के वेडौल
उड़ने जहाज
कलस तिसूल वाले मन्दिर-शिखर से ले
तारघर की नाटी मोटी चिपटी गोल धुस्सों वाली
उपयोग-सुन्दरी
बे-पनाह काया को;

गो धूली को धूल को, मोटरों के धुएँ को भी
पार्क के किनारे पुष्पिताम्र कर्णिकार की आलोक-खची ,
तन्वि रूपरेखा को
और दूर कचरा जलाने वाली कलकी उद्दंड चिमनियों को, जो
धुआँ यों उगलती हैं मानो उसी मात्र से अहेरी को,
हरा देंगी !

बावरे अहेरी रे
कुछ भी अवध्य नहीं तुझे; सब आखेट हैः
एक बस मेरे मन -विवर में दुबकी कलौंस को
दुबकी है छोड़ कर क्या तू चला जायगा ?
लो, मैं खोल देता हूँ कपाट सारे
मेरे इस खँडहर की शिरा-शिरा छेद दे
आलोक की अनी से अपनी,
गढ़ सारा ढाह कर ढह भर कर देः
विफल दिनों की तू कलौंस पर माँज जा
मेरी आँखें आँज जा
कि तुझे देखूँ
देखूँ और मन में कृतज्ञता उमड़ आये
पहनूँ सिरोपे से ये कनक-तार तेरे—
बावरे अहेरी रे ।

जनवरी छब्बीस

आज हम अपने युगों के स्वप्न को
यह नयी आलोक मंजूषा समर्पित कर रहे हैं ।
आज हम अक्लान्त, ध्रुव, अविराम गति से
बढ़े चलने का कठिन व्रत धर रहे हैं ।
आज हम समवाय के हित, स्वेच्छया,
आत्म-अनुशासन नया यह वर रहे हैं ।

निराशा की दीर्घ तमसा में सजग रह
हम हुताशन पालते थे साधना का—
आज हम अपने युगों के स्वप्न को
आलोक-मंजूषा समर्पित कर रहे हैं।

२

सुनो हे नागरिक !
अभिनव सभ्य भारत के नये जन राज्य के
सुनो ! यह मंजूषा तुम्हारी है।
पला है आलोक चिर-दिन यह तुम्हारे स्नेह से
तुम्हारे ही रक्त से।
तुम्हीं दाता हो, तुम्हीं होता, तुम्हीं यजमान हो।
यह तुम्हारा पर्व है।
भूमि-सुत ! इस पुण्य-भू की प्रजा,
स्रष्टा तुम्हीं हो इस नये रूपाकार के
तुम्हीं से उद्‌भूत हो कर बल तुम्हारा
साधना का तेज—तप की दीप्ति
तुमको नया गौरव दे रही है !
यह तुम्हारे कर्म का ही प्रस्फुटन है।
नागरिक, जय ! प्रजा-जन, जय !
राष्ट्र के सच्चे विधायक, जय !

३

हम आलोक-मंजूषा समर्पित कर रहे हैं
और मंजूषा तुम्हारी है।
और यह आलोक
तुम्हारे ही अडिग विश्वास का आलोक है।
किंतु रूपाकार यह केवल प्रतिज्ञा है

उत्तरोत्तर लोक का कल्याण ही है साध्य
अनुशासन उसी के हेतु है।

४

यह प्रतिज्ञा ही हमारा दाय है लम्बे युगों की
साधना का, जिसे हमने धर्म जाना।
स्वयं अपनी अस्थियाँ देकर हमीं ने असत् पर
सत् की विजय का मर्म जाना।
सम्पुटित कर हाथ, जिसने गोलियाँ निज वक्ष पर
झेलीं, शमन कर ज्वार हिंसा का—
उसी के नत-शीश धीरज को हमारे स्तिमित चिर-संस्कार
ने सच्चा कृती का जन्म जाना।
साधना रुकनी नहीं
आलोक जैसे नहीं बँधता।
यह सुघर मंजूषा भी
झर गिरा सुन्दर फूल है पथ-कूल का।
माँग पथ की इसी से चुकती नहीं।
फिर भी बीन लो यह फूल
स्मरण कर लो इसी पथ पर गिरे सेनानी जयी को,
बढ़ चलो फिर शोध में अपने उसी
धुँधले युगों के स्वप्न की
जिसे हम आलोक-मंजूषा समर्पित कर रहे हैं।
आज हम अपने युगों के स्वप्न को
यह नयी आलोक-मंजूषा समर्पित कर रहे हैं।

प्रश्न

(१) 'अज्ञेय' की कविता प्रयोगवादी क्यों कही जाती है ?

(२) 'उड़ चल हारिल' कविता का भावार्थ तथा सकेतार्थ स्पष्ट कीजिए।

———

परिशिष्ट

प्रस्तुत सकलन की कविताएँ निम्नलिखित पुस्तकों से उद्धृत की गई हैं।

कबीरदास—कबीर-ग्रंथावली	[इंडियन प्रेस, स० १८२८]
मलिक मुहम्मद जायसी—जायसी-ग्रंथावली	[हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, सन् १९५२]
सूरदास—सूरसागर, खंड १, २	[नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, स० २००७]
तुलसीदास—रामचरित मानस	[साहित्य कुटीर, प्रयाग, सन् १९४६]
कवितावली	[गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २००१]
विनयपत्रिका	[साहित्य-सेवा-सदन, बनारस, स० २००७]
नंददास—नंददास भा० १	[प्रयाग विश्वविद्यालय, सन १९४८]
बिहारीलाल—बिहारी-रत्नाकर	[गंगा-ग्रंथागार, लखनऊ, सन् १९२६]
भूषण—भूषण-ग्रंथावली	[नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, स० १९८८]
मतिराम—मतिराम ग्रंथावली	[गंगा-ग्रंथागार, लखनऊ, सं० १९९१]
देवदत्त—भवानी विलास	[भारत जीवन प्रेस, काशी सन् १८९३]

रसविलास [भारत जीवन प्रेस, काशी, सन् १९००]

देव-सुधा [गगा-ग्रथागार, लखनऊ, स० २००५]

मैथिलीशरण गुप्त—साकेत [साहित्य सदन, चिरगांव, झाँसी, स० २०१०]

यशोधरा [साहित्य सदन, चिरगांव झाँसी, स० १९९०]

कुणाल गीत [साहित्य सदन, चिरगांव, झाँसी, स० १९९६]

माखनलाल चतुर्वेदी—हिमकिरीटिनी [चतुर्थ सस्करण स० २००७]

हिमतरंगिनी [भारती भडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, स० २००५]

जयशंकरप्रसाद—कामायनी [भारती भण्डार, इलाहाबाद, स० २०१०]

झरना [भारती भडार, इलाहाबाद, स० २००८]

लहर [भारती भडार, इलाहाबाद, स० २००६]

सियारामशरण गुप्त—जयहिंद [साहित्य सदन, झाँसी, स० २००५]

दैनिकी [साहित्य सदन, झाँसी, स० १९९९]

पाथेय [साहित्य सदन, झाँसी, स० २००८]

र्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'—अनामिका [भारती-भंडार, इलाहाबाद, सं० १९९५]

परिमल [गंगा-प्रयागार, लखनऊ, स० २००७]

गीतिका [भारती-भंडार, इलाहाबाद, सं० २००५]

सुमित्रानंदन पंत—पल्लव [भारती-भंडार, इलाहाबाद, स० २००५]

गुंजन [भारती-भंडार इलाहाबाद, स० २००८]

युगपथ [भारती-भंडार, इलाहाबाद, स० २००६]

स्वर्ण किरण [भारती-भंडार, इलाहाबाद, स० २००४]

महादेवी वर्मा—दीप-शिखा [किताबिस्तान, इलाहाबाद, सन् १९४८]

यामा [किताबिस्तान, इलाहाबाद, सन् १९३९]

रामधारी सिंह 'दिनकर'—नीलकुसुम [उदयाचल, पटना, १९५४]

रसवन्ती [उदयाचल, पटना, चतुर्थ संस्करण]

सामधेनी [उदयाचल, पटना, सन् १९४९]